chapter. 4

: चतुर्थ अध्याय :

: प्रेमचन्द तथा प्रेमचन्द-युग के कहानीकारों की कहानियों में दलित- विमर्श :

: चतुर्थ अध्याय :

: प्रेमचन्द तथा प्रेमचन्द-स्कूल के कहानीकारों में की कहानियों में दलित-विमर्श :

प्रास्ताविक :

पूर्ववर्ती अध्यायों में एकाधिक बार निर्दिष्ट किया गया है कि आधुनिक काल के दो मुख्य अभिलक्षणों में नारी विमर्श और दलित विमर्श का उल्लेख किया जाता है । ये दोनों मुद्दे नवजागरण काल में जो सामाजिक , राजनीतिक , धार्मिक , सांस्कृतिक आंदोलन हुए उनके फलस्वरूप उभर कर आये हैं । हमारे यहां १७वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक धर्म और शास्त्र के नाम पर नारियों पर अनेक प्रकार की निर्योग्यताएं थोपी गयी थीं , जिनके रहते समाज में नारियों की स्थिति अत्यन्त ही शोचनीय थी । अतः स्त्रियों की स्थिति को लेकर नयी दृष्टि से विचार होने लगे और उनकी स्थिति में सुधार लाने के लिए नारी-शिक्षा का प्रचार , विधवा-विवाह का

प्रचार , सतीप्रथा का विरोध , दहेज-प्रथा का विरोध , बालिका-विवाह का विरोध जैसे मुद्दे नवजागरण काल में उभरकर आये । उसी प्रकार दूसरा मुद्दा था दलित-विमर्श का । स्त्रियों की तरह शूद्रों या दलितों पर भी धर्म और शास्त्र के नाम पर अनेक नियोग्यताएं थोपी गयी थीं । अतः उनकी स्थिति के सुधार के लिए भी 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध तथा 20वीं शताब्दी के प्रारंभ से अनेकानेक प्रयत्न हुए । साहित्य में भी इन दोनों विमर्शों को प्रत्येक विधा में रचनाओं का प्रणयन हुआ । हिन्दी साहित्य के आधुनिक काल में भी इन दोनों विमर्शों को लेकर अनेक कहानियां लिखी गयी हैं । पूर्ववर्ती अध्याय में हिन्दी साहित्य की अन्य विधाओं में दलित-जीवन का जो चित्रण हुआ है उसकी चर्चा हम कर चुके हैं । अतः यहां केवल कहानी विधा को लेकर चर्चा होगी । हिन्दी के आधुनिक काल में नारी-विमर्श का प्रारंभ तो पूर्व - प्रेमचन्दकाल से ही हो गया था , किन्तु दलित-विमर्श का चित्रण हमें प्रेमचन्द युग से मिलता है । अतः प्रेमचन्द तथा प्रेमचन्द स्कूल के लेखकों ने दलित जीवन के संदर्भ में जो कहानियां लिखी हैं , उनकी चर्चा प्रस्तुत अध्याय का प्रतिपाद्य है । दलित-विमर्श के संदर्भ में प्रेमचन्द प्रथम और एक प्रमुख कहानीकार हैं अतः उनकी एतद् विषयक कहानियों की विस्तृत चर्चा यहां प्रस्तुत है । परन्तु यहां अध्ययन की सुविधा के लिए हमने थोड़ा क्रम-विपर्यय किया है । प्रेमचन्द-स्कूल के कहानीकारों की दलित-विमर्श से सम्बद्ध कहानियों पर संक्षेप में दृष्टिपात करने के पश्चात् हमने प्रेमचन्द की कहानियों को विवेचन-विश्लेषण हेतु लिया है ।

प्रेमचन्द-स्कूल के कहानीकारों में दलित-विमर्श का चित्रण :

प्रस्तुत अध्याय में प्रेमचन्द की दलित-विमर्श से सम्बद्ध कहानियों पर विस्तार से चर्चा करने जा रहे हैं , अतः यहां पर प्रेमचन्द-

स्कूल के अन्य लेखकों की दलित-विमर्श से सम्बद्ध कहानियों पर संक्षेप में विचार करने का हमारा उपक्रम है ।

पांडेय बेचैन शर्मा उग्र को इस दृष्टि से हम एक युग-प्रवर्तक× प्रवर्तक कहानीकार कह सकते हैं । प्रगतिवादी आधार , सामाजिक परिवर्तन और सामाजिक क्रान्ति के लिए उन्होंने सदैव नवीन वैचारिक प्रभावों का स्वागत किया है । अतः इसे स्वाभाविक ही कहा जायगा कि उनकी कहानियों में हमें दलित-जीवन से मुड़क× जुड़े सरोकार प्राप्त होते हैं । समाज में प्रचलित रूढ़ परंपराएं और उनके परिणाम कितने घातक होते हैं और ये सामाजिक प्रथाएं और रूढ़ियाँ कितनी मानव-विरोधी हैंक×हैं× और अत्याचारपूर्ण होती हैं उनका आकलन हमें उग्रजी की उन कहानियों में दृष्टिगोचर होता है जो दलित-जीवन से जुड़ी हुई हैं । ऐसी ही एक कहानी है — " समाज के चरण " । इस कहानी में उग्रजी ने दलितों के मंदिर-प्रवेश की समस्याओं को उपस्थित किया है । कहानी में मंदिर-प्रवेश से वर्जित एक अछूत व्यक्ति के भक्ति-भावपूर्ण जीवन का चित्रण किया गया है । यह अछूत किसान धार्मिक वृत्ति का है । परन्तु भगवान के मंदिर में प्रवेश पाने का अधिकारी वह नहीं है , दूसरी ओर जहां कितने ही ढोंगी और पाखंडी अन्य जाति के लोग मंदिर में आसानी से प्रवेशते हैं । यहां भगवान का यह सच्चा पवित्र-हृदय भक्त उनके दर्शनों को तरसता है , यह कितनी बड़ी विडम्बना है । उग्रजी ने इस कहानी में मंदिर के स्वामी के कथन द्वारा दलितों के प्रति होनेवाले अमानुषी निर्दय अत्याचार को दिखा-कर समाज के ढोंगी रूप को प्रत्यक्ष किया है । लेखक कहानी में कहते हैं — " इन्हें अछूत कहकर , अछूत बनाकर समाज ने कितना भीषण , कितना अमानुषी और कितना क्रूर वक्र दण्ड दिया है । ये विद्या का अभ्यास नहीं कर सकते , क्योंकि अछूत है । ये भी खोलकर ईश्वर का नाम तक नहीं ले सकते , क्योंकि अछूत है । हाय रे ! ढोंगी समाज ।"
उनकी "ब्राह्मण-द्रोही" नामक कहानी में भी समाज में प्रवर्तित जाति-वाद के खिलाफ विमर्श मिलता है । प्रस्तुत कहानी का पंडित कमल-

नाथ सनातनी हिन्दू समाज का प्रतिनिधि है । वह सामाजिक ढांचों और परंपराओं का पक्षधर है । उसका विश्वास है कि समाज में ब्राह्मण का स्थान सर्वोपरि होना चाहिए । ब्राह्मण की तुलना में संसार की अन्य जातियाँ तुच्छ और नगण्य है । परंतु पं० कमलनाथ के बेटे जीवन और एक अन्य पात्र मास्टरजी के विचार कुछ-कुछ प्रगतिशील प्रकार के हैं । उनका मानना है कि ब्राह्मण सर्वोपरि तो है परन्तु ब्राह्मण का निर्धारण जन्म से नहीं अपितु कर्म से होना चाहिए — " कर्म ही ब्राह्मण है । कबीर, रैदास और गांधी से बढ़कर ब्राह्मण होना असंभव है ।" [2] इस संदर्भ में प्रेमचंदजी के विचार भी विचारणीय हैं । उनके समय में ठाकुर श्रीनाथसिंह तथा श्रीयुत ज्योतिप्रसाद "निर्मल" ने प्रेमचन्द पर जातिवाद का आरोप लगाते हुए कहा था कि प्रेमचन्द अपने साहित्य में ब्राह्मणों की घृणा करते हैं । तब उसका उत्तर देते हुए प्रेमचन्द ने कहा था — " लेखक की दृष्टि में ब्राह्मण कोई समुदाय नहीं, एक महान पद है जिस पर आदमी बहुत त्याग, सेवा और सदाचरण से पहुँचता है । हरेक टकेपंथी पुजारी को ब्राह्मण कहकर मैं उस पद का अपमान नहीं कर सकता ।" [3]

छायावादी कवियों में और लेखकों में सर्वाधिक प्रगतिवादी मूल्य हमें सूर्यकान्त त्रिपाठी "निराला" में मिलते हैं । उन्होंने "निरुपमा" और " कुल्ली भाट " नामक उपन्यासों में दलित-जीवन को उकेरा है । उनकी यह प्रगतिवादी दृष्टि उनकी कहानियों में भी दृष्टिगत होती हैं । उनकी दलित-विमर्श की कहानियों में "चतुरी चमार" कहानी अत्यन्त प्रसिद्ध एवं चर्चित है । इसमें निरालाजी ने अपने मानवीय दृष्टिकोण को व्यक्त किया है । प्रस्तुत कहानी में लेखक चतुरी के संदर्भ में बताते है कि चतुरी चमार डाकखाना चमियानी, मौजा गढ़ाकोला, जिला उन्नाव का एक कदीमी बाशिन्दा है । वह जाति से चमार है, अतः चमड़े के जूते तैयार करना उसका पुश्तैनी व्यवसाय है । उसमें वह पूरी तरह से दक्ष है । अपनी कला में माहिर

होने के कारण उसके जूतों की बड़ी तारीफ है और पास-पड़ोस के जवार में अपने काम के लिए वह विख्यात है । लेखक चतुरी चमार के जूतों के संदर्भ में लिखते है -- " पासी इनसे मैं तीन दिन हिरन , चौगड़े और बनैले सुअर खदेड़कर फांसते हैं , किसान अरहर की ठूंठियों पर ढोर भगाते हुए दौड़ते हैं , कंटीली झाड़ियों को दबाकर चले जाते हैं , छौंकड़े बेल , बबूल , करील और बेर के कांटों से भरे रुंधवाए बागों से सरपट भागते हैं , लोग जेंगरे पर मड़नी करते हैं , द्वारिका का नाई न्यौता बांटता हुआ दो साल में दो हजार कोस से ज्यादा चलता है , वैसे ही चतुरी के जूते अपरिवर्तनवाद के वृत्त रूपक जैसे टस से मस नहीं होते ।" [4] इस कहानी के माध्यम से निराला चतुरी चमार में दलित-चेतना जो विकसित हो रही है उसका संकेत देते हैं । एक स्थान पर चतुरी चमार दुःखी होकर कहानी के एक अन्य पात्र से कहता है -- " जमींदार के सिपाही को हर साल एक जोड़ा जूता देना पड़ता है । एक जोड़ा जूता मजे से दो साल चलता है , परन्तु जमींदार के सिपाही को साल में एक जोड़ा जूते देने ही पड़ते हैं और वह भी मुफ्त में ।" [5] इस प्रकार जुल्म का राज खुलेआम चलता है । उसका संकेत उसकी दर्दभरी आंखों से जो आंसू बहते हैं उनसे मिल जाता है । चतुरी चमार में संघर्ष से जुड़ने का xxxxxxxx धैर्य है । अपने अधिकार का ज्ञान होने पर उसमें अन्याय के प्रति प्रतिकार के लिए शक्ति और साहस का संचार होता है । वह अपने बेटे को पढ़ा-लिखाकर कुछ बनाना चाहता है । इस प्रकार दलित जीवन से ऊपर उठने की एक चेतना निरालाजी उसमें दिखाते हैं । ओम-प्रकाश वाल्मीकि की " अम्मा" कहानी की अम्मा स्वयं तो पुश्तैनी काम करती है , परंतु उसके बेटे और बहुओं में से कोई झाडू को हाथ नहीं लगाता , बल्कि यों कह सकते हैं कि अम्मा उनको लगाने नहीं देती । किन्तु "अम्मा" के समय में और "चतुरी चमार" के समय में काफ़ी फासला है । उस xx समय में किसी पात्र में ऐसी चेतना दिखाना भी अपने आप में एक बड़ी बात है । यों निराला

हमेशा अपने जमाने से एक कदम आगे रहे हैं ।

आचार्य चतुरसेन शास्त्री के साहित्य में भी दलित-विमर्श मिलता है । उनके "गोली" उपन्यास में वह साफ उभरकर आया है । उनकी "मेहतर की बेटी का भात" नामक कहानी दलित-विमर्श के एक दूसरे पक्ष को रखती है । कहानी इस प्रकार है : एक मेहतर की बेटी का ब्याह था । शादी में मामा की तरफ से "भात " चढ़ाया जाता है और "भात चढ़ाने वालों को " भातई" कहा जाता है । मेहतर भातइयों की प्रतीक्षा कर रहा था । उस समय गाँव का जमींदार चौधरी रूपराम मालगुजारी की रकम लेकर बादशाह के पास जा रहा था । गलती से मेहतर माल-असबाब के साथ आ रहे चौधरी को ही "भातई " समझ बैठता है । पर अपनी गलती का पता चलते ही वह चौधरी के पैरों में पड़ जाता है और अपनी बेअदबी के लिए मुआफी माँगता है । पर चौधरी भी दिल का दाना निकलता है और वह सचमुच में सारा पैसा और माल-असबाब "भात- " के रूप में चढ़ा देता है । वह मेहतर को गले लगाकर वाकई उसका "भातई" बन जाता है । बादशाह को जब इस बात का पता चलता है तो वह भी खुश होता है और अपनी तरफ से जड़ाऊ जेवर कपड़े आदि " शाही भात " के रूप में भेजता है । इस प्रकार इस कहानी में आचार्य चतुरसेन शास्त्री सामंतकालीन परिवेश के एक उजले पक्ष को पाठकों के सम्मुख रखते हैं ।

महापंडित राहुल सांकृत्यायन मार्क्सवादी विचारधारा के लेखक हैं । अतः उनके साहित्य में दलित-विमर्श का आना स्वाभाविक ही कहा जाएगा । दलित-विमर्श की दृष्टि से उनकी "पुजारी", "सतमी के बच्चे " , " प्रभा " सुपर्णयौधेय " , " दुर्मुख" आदि कहानियाँ उल्लेखनीय कही जा सकती हैं । इनमें "प्रभा" और "सुपर्ण यौधेय " में ऐतिहासिक परिवेश है । अन्य कहानियों में सम-सामयिक परिवेश है ।

राहुलजी की "पुजारी" कहानी का पुजारी सुधारवादी है। वह जातिभेद में नहीं मानता। उसका चिंतन इन फालतू बातों से ऊपर उठा हुआ है। अतः वह चिनगी चमार को अपना हलवाहा बनाता है। बूढ़े चिनगी को पुजारी का बड़ा आसरा है। जब चिनगी का देहान्त हो जाता है तब पुजारी उसके अग्निसंस्कार में उपस्थित रहते हैं। सामाजिक दबावों से वे टस से मस नहीं होते। लोगों को बड़ा आश्चर्य होता है जब पुजारीजी आदेश देते हैं कि चिनगी भगत की दाह-क्रिया गंगा-तट पर होगी। गंगा का तट वहाँ से तीस मील की दूरी पर था। प्रायः ऊँची जाति के संपन्न लोगों की दाह-क्रिया ही इस तरह होती थी। परन्तु पुजारीजी स्वयं गंगा-तट तक जाते हैं और चिनगी का दाह-संस्कार करवाते हैं। इस प्रकार पुजारीजी समाज के परंपरा-प्रेमियों को एक हल्का-सा धक्का देते हैं। मार्क्सवादी होते हुए भी यहाँ राहुलजी इस तथ्य का उद्घाटन करते हैं कि धर्म-कर्म से जुड़े हुए लोग, जिनकी बातों को समाज के दूसरे लोग मानते हैं, यदि प्रगतिवादी कदम उठाते हैं तो समाज पर उसका अच्छा प्रभाव पड़ता है। प्रस्तुत कहानी के पुजारी डा. भगवतीशरण मिश्र के उपन्यास "सूरज के आने तक" के नूनू बाबा की प्रति-छाया से लगते हैं।

उनकी दूसरी कहानी "ललमी के बच्चे" में चमारों की दीन-हीन अवस्था का वर्णन हुआ है। चमार व्यक्तिगत रूप से गुलाम न होते हुए भी पूरे समाज, गाँव या नगर के गुलाम होते हैं। इस तथ्य को राहुलजी ने यहाँ उद्घाटित किया है। "गुलामी-प्रथा" में तो व्यक्ति किसी एक परिवार का गुलाम होता है, परन्तु भारत में दलितों की जो स्थिति है, वह उन गुलामों से भी गयी-गुजरी होती है। उन्हें सामूहिक गुलामगिरी करनी पड़ती है। उस प्रथा में तो कई उदार मालिक अपने गुलाम के कुशल-क्षेम का भी ध्यान रखते हैं। परन्तु भारत के दलितों के कुशल-क्षेम का उत्तर-दायित्व किसी का भी नहीं रहता है। प्रस्तुत कहानी में चमारों

और ब्राह्मणों के घरों की गिनती का भी एक प्रसंग आता है । उसमें ब्राह्मणों के घरों की कुल संख्या चमारों के घरों से ज्यादा निकलती है । वस्तुतः यह व्यवस्था ही एक प्रकार से शोषणोन्मुखी है । ऊंची जाति के लोग गांव या नगर में उतने ही दलित लोगों को बसाते थे जितनों की उन्हें आवश्यकता होती थी । गुजरात में तो इसलिए इन जातियों के लिए " वसवैये " शब्द भी प्रचलित है । इस प्रकार उनको बसाया जाता था । अपने घर या झोंपड़े के लिए उन्हें जो जमीन दी जाती थी वह भी उनकी मिल्कत न होकर गांव की सामूहिक मिल्कियत मानी जाती थी । जगदीशचन्द्र के उपन्यास "धरती धन न अपना " में इस तथ्य को रेखांकित किया गया है ।

उनकी "सुमेर" नामक कहानी में सुमेर एक दलित चमार है । उसे गांधीवादी विचारों से सख्त घृणा है , वह गांव के ओझा से कहता है —" मैं " हरिजन " नाम से सख्त घृणा करता हूं । मैं हरिजन पत्र को पुराण-पंथी और भारत को पुनः अंधकार-युग की ओर खींचनेवाला पत्र समझता हूं और गांधीजी को अपनी जाति का सबसे बड़ा दुश्मन ।" [6] वह आगे कहता है —" गांधीजी को हमारे साथ प्रेम इसलिए है कि हम हिन्दुओं में से निकल न जाएं ।" [7] यहां ध्यान रहे कि गांधीजी की नीति के बारे में डा. बाबासाहब अम्बेडकर का भी कुछ ऐसा ही मत था । वे वर्ण-व्यवस्था के पक्षधर महात्मा गांधी के विचार दलितोद्धार के लिए तारक नहीं बल्कि मारक मानते थे । कहानी में सुमेर स्वयं अपना परिचय देता है जिससे उसके परिवार का शोषित और कष्टमय जीवन प्रकाश में आता है । वह कहता है —" मैं एक साधारण चमार का लड़का हूं । मेरे घर में एक धूर भर भी अपनी जमीन नहीं है । जमींदार ने जबरदस्ती दखल कर वहां अपना बगीचा बनवा लिया । मां कूट-पीस कर अब भी पेट पालती है ।" [8]

सुमेर की स्थिति से गांवों में दलितों की आर्थिक दुरावस्था का चित्र मिलता है ।

"प्रभा" और " सुपर्ण यौद्धेय " ये दो कहानियां राहुलजी ने ऐतिहासिक परिवेश को लेकर लिखी हैं । यहां इस बात का ध्यान रहे कि जो लेखक ऐतिहासिक कथावस्तु को लेकर उपन्यास , कहानी , नाटक इत्यादि लिखते हैं , उनकी "इतिहास-दृष्टि " अलग-अलग प्रकार की होती है । महापंडित राहुल सांकृत्यायन चूंकि मार्क्सवादी लेखक हैं , उनके ऐतिहासिक उपन्यासों और कहानियों में भी उनकी वही मार्क्सवादी दृष्टि के दर्शन होते हैं । वे इतिहास के उन प्रसंगों को विशेष रूप से उकेरते हैं कि जिनमें मार्क्सवादी या प्रगतिवादी जीवन-मूल्य दृष्टिगोचर होते हैं ।

"प्रभा" कहानी में अश्वघोष के माध्यम से लेखक वैदिक धर्म की शोषणोन्मुखी नीति पर कुठाराघात करते हैं । इस कहानी के माध्यम से राहुलजी का यह आग्रह उभर कर आता है कि शूद्रों , दासों और चांडालों के प्रति भी मानवीय व्यवहार होना चाहिए । कहानी में अश्वघोष बारंबार ब्राह्मण-धर्म को तिरस्कृत करता है । वह तुल्लम-तुल्ला कहता है -- " मुझे ब्राह्मणों के पाखंडों से अपार घृणा है । ... अपने यहां के शूद्रों , चांडालों और दासों को इन्होंने हमेशा के लिए वहीं रखा । जिस धर्म से आदमी का हृदय ऊपर नहीं उठता , जिस धर्म में आदमी का स्थान उसकी थैली या डंडे के अनुसार होता है , मैं उसे मनुष्य के लिए भारी कलंक समझता हूं ।" [9] डा॰ बाबासाहब ने भी जो बौद्ध-धर्म अंगीकृत किया था उसके पीछे भी उनकी कुछ इसी प्रकार की अवधारणा थी । वे प्रायः कहा करते थे कि मैं हिन्दू के रूप में जन्मा हूं पर हिन्दू के रूप में मरूंगा नहीं । और मृत्यु के पूर्व बौद्ध-धर्म अंगीकृत करके उन्होंने अपने उस कथन को प्रमाणित भी किया । "प्रभा" कहानी का अश्वघोष बाबासाहब की प्रतिमूर्ति-सा ही लगता है ।

उनकी दूसरी कहानी " सुपर्ण यौद्धेय " में उन्होंने बौद्धों और ब्राह्मणों के संघर्ष को निरूपित किया है । यहां पर भी ब्राह्मण-धर्म तथा वर्ण-भेद की बात आयी है । बौद्ध इस वर्ण-व्यवस्था के विरोधी थे और

उसको मूल-सहित उखेड़ फेंकना चाहते थे । इस प्रकार ऐतिहासिक परिवेश को उठाते हुए भी राहुलजी उनमें प्रगतिवादी जीवन-मूल्यों की तलाश करते हैं ।

प्रेमचन्द स्कूल के लेखकों में उपेन्द्रनाथ अश्क का भी एक महत्वपूर्ण स्थान है । दलित-विमर्श की दृष्टि से उनकी "पिंजरा" नामक कहानी को उल्लेखनीय कहा जा सकता है । कहानी की नायिका शांति जहाँ रहती है उसके आसपास भंगी- चमार जाति के लोग रहते हैं । लेखक ने उनके परिवेश का चित्रण निम्नलिखित शब्दों में किया है — " जिस मकान में शांति रहती थी , उसके नीचे टैंडी चमार अपने आठ लड़के-लड़कियों के साथ जमा हुआ था , दूसरी ओर गली में मारवाड़ी की दुकान थी और जिधर दरवाजा था उधर भंगी रहते थे । उसके दरवाजे के जरा ही परे भंगियों ने तंदूर लगा रखा था , जिसका धुआँ सुबह-शाम उसकी रसोई में आ जाया करता था । " [10] स्वाभाविक ही है कि ऐसी तंग , गंदी , धूमिल बस्तियों में तरह-तरह की बीमारियाँ फैलती रहती हैं । टैंडी चमार का लड़का निमोनिया से मर जाता है । ऐसे कमनसीब दलितों को शांति अपने नल पर पानी नहीं भरने देती । पुजारी की काली-कलूटी लड़की को दलित समझकर यह कहती है — " हमारा नल भंगी-चमारों के लिए नहीं है । " इस बात को लेकर काफी बवाल भी खड़ा होता है । इस प्रकार प्रस्तुत कहानी के माध्यम से अश्कजी ने दलित-जीवन की समस्याओं की ओर पाठकों का ध्यान आकृष्ट किया है ।

ऋषभचरण जैन द्वारा लिखित "कौड़ियों का हार " ग्रामीण दलित-जीवन से जुड़ी हुई कहानी है । कहानी के केन्द्र में तीन पात्र हैं — मैं , चुन्नी और धनिया । कथा-नायक "मैं" जमींदार का बेटा है । गांव में चुन्नी नामक भंगी से उसकी दोस्ती है । धनिया उसी चुन्नी की बहन है । इस लड़की को चौपड़ की कौड़ियों और खिलौनों का बहुत शौक था । नायक ने उसे बहुत-सी कौड़ियाँ

ला दी थी । उन कौड़ियों का उसने एक हार बनाया था । तीनों मिलकर अक्सर यह खेल खेलते थे जिसमें धपिया दुल्हन बनती थी और नायक दुल्हा । चुन्नी कन्या के पिता का रोल अदा करता था । नायक की उम्र जब बारह वर्ष की हुई तब यह परिवार गाँव से शहर चला गया । जाते समय चुन्नी मास नायक से कहता है — "आड़ी , देखो भूल न जाना । "[11] गाड़ी जब गाँव से काफी दूर निकल जाती है तब धपिया पीली ओढ़नी और लाल घघरी पहने गाड़ी के सामने आ जाती है । धपिया उसके पैरों से लिपट जाती है । उस समय गाड़ीवाला भिनभिनाकर चिल्लाकर कहता है — " अरे , भैया को छू लिया राँड को राँड अब नहाना पड़ेगा । "[12] तब नायक की माँ कहती है — " नहीं रे , न्हाना धोना क्या , पानी छिड़क दूँगी । काफी है । बच्चे हैं , साथ-साथ खेले हैं ... जा बेटी जा , अपने घर जा । हम लोग जल्दी लौटेंगे । राजी-खुशी रहियो । ले , यह मीठी पूरी ले , खा लीजो और यह चार पैसे ले । इनकी मिठाई खाइयो । "[13] उसके बाद कई साल गुजर गये । नायक ग्रेज्युएट हो जाता है । धपिया की शादी हो जाती है । परन्तु उसका पति उसे खूब पिटता था । एक दिन चुन्नी धपिया को लेकर शहर जाता है और धपिया को नायक से मिलाता है । तब नायक के मुंह से निकलता है — " छीः गन्दी लड़की , छीः चुड़ैल ! "[14] इस पर धपिया सिर उठाकर उसके पैरों पर कोई चीज फेंककर चली जाती है । वह चीज उन्हीं कौड़ियों का तागे में पिरोया हुआ हार था , जिन कौड़ियों को नायक माता-पिता से चुराकर धपिया को देता था । नायक उस हार को अपने साथ ले आता है और अपनी मेज के दराज में उसे रख देता है । कभी-कभी उस पर नज़र पड़ जाती है । कहानी का अन्त इस वाक्य से होता है — " छिः ! पागल लड़की ! .... क्यों पाठक , भला वह लड़की पागल थी या मैं पागल था ? "[15]

प्रस्तुत कहानी में लेखक ने एक ही साथ कई पहलुओं को तटस्थतापूर्वक रखा है । जात-पाँत, ऊँच-नीच, अमीर-गरीब, अमीर की मुहब्बत गरीब का प्यार, अस्पृश्यता, गाँव के दीन-हीन अवस्था में जी रहे दलित लोग, बुद्धिजीवियों के वन्दय मुद्दों की पड़ताल आदि-आदि । लेखक ने कलागत निरपेक्षता के साथ इन सब को रखा है । यहाँ प्रेमचन्दीय आदर्शवाद भी नहीं है । है केवल ठोस निर्मम यथार्थ और उसका उतना ही ठोस और यथार्थ चित्रण । गाड़ीवाला जो कहता है उससे अस्पृश्यता का नग्न सत्य सामने आता है । चुन्नी और धधिया तो अपने बचपन के साथी को हमेशा याद रखते हैं, परन्तु बचपन का वह साथी उनको भूल गया है । उसके जीवन में अब इन गन्दे-कुचले लोगों की कोई अहमियत नहीं रह गई है । प्रस्तुत कहानी में चुन्नी और धधिया के साथ जो हीन व्यवहार होता है, उसके पीछे अस्पृश्यता की भावना है, क्योंकि ये दोनों भाई-बहन भंगी जाति के हैं, जो अस्पृश्यों में भी अधिक हीन जाति के माने जाते हैं ।

प्रेमचन्द की कहानियों में दलित-विमर्श :

पहले कई बार निर्दिष्ट किया जा चुका है कि आधुनिक युग का साहित्य प्रमुख रूप से दो मुद्दों को केन्द्रित करके चला है — नारी विमर्श और दलित विमर्श । आधुनिक युग के साहित्य का यदि कोई सर्वोपरि व्यावर्तक अभिलक्षण है तो वह है धर्म और समाज को देखने का उसका मानवतावादी दृष्टिकोण । प्रेमचन्द के साहित्य में प्रारंभ से ही यह मानवतावादी दृष्टिकोण मिलता है । प्रेमचन्द की लेखकीय दृष्टि भी क्रमशः विकसित हुई है । यह विकास आर्यसमाज तथा गाँधीवाद से होकर अम्बेडकर और मार्क्सवाद तक संक्रमित हुआ है ; फलतः उपन्यास की तरह ही उनकी कहानियों में में भी सर्वत्र मानवतावादी दृष्टिकोण दिखाई पड़ता है । यही

कारण है कि उनकी गणना विश्व के महान कहानीकारों में होती रही है। टालस्टाय, चेखोव, गोर्की, मोपांसा जैसे विश्व के महान कहानीकारों के साथ उनकी कहानियों को रखा जाता है। गोर्की और चेखोव की तरह वे भी बिलकुल सामान्य प्रकार के लोगों से अपनी कहानी के तानों-बानों को बुनते हैं। प्रेमचन्द ने लगभग ढाई सौ के करीब कहानियां लिखी हैं। इन कहानियों में तत्कालीन समाज की अनेक समस्याओं को प्रस्तुत किया गया है। किन्तु हमारा अभिप्राय यहां उन कहानियों से है जिनमें दलित-विमर्श किसी-न-किसी रूप में उपलब्ध होता है। ऐसी कहानियों में "सद्‌गति", "शूद्रा", "पूस की रात", "घासवाली", "दूध का दाम", "सौभाग्य के कोड़े", "सवा सेर गेहूं", "ठाकुर का कुंआ", "गुल्लीडण्डा", "अग्नि-परीक्षा", "सभ्यता का रहस्य", "मंदिर", "मंत्र", "लांछन", "बौड़म", "देवी", "जुरमाना", "कफ़न" आदि हैं। यहां पर उनमें से कुछेक कहानियों की दलित-विमर्श के परिप्रेक्ष्य में चर्चा करने का हमारा उपक्रम रहेगा।

(1) सद्‌गति :

प्रेमचंद की दलित-विमर्श की कहानियों में "सद्‌गति" सबसे अधिक चर्चित कहानी है। यह कहानी सन् 1931 में प्रकाशित हुई थी। कुल कहानी इतनी है : दुःखी चमार की बिटिया की सगाई है। वह साइत-सगुन विचरवाने के लिए पंडित घासीराम के यहां पहुंचता है। उसके पूर्व वह उनके सीधे-सामान की भी व्यवस्था करता है। पंडितजी शायद जाने को राजी न भी होते, पर सीधा-सामान की बात सुनकर कहते हैं कि शाम को चलेंगे। तब तक पंडितजी उससे खूब सारी बेगार करवाते हैं जिसमें लकड़ी की एक सख्त मोटी सी गांठ भी है जिसे चीरने का काम उसे

सौंपा गया है । इस गांठ पर दुखिया से पहले भी पंडितजी के कई भक्त हाथ आजमा चुके हैं , पर गांठ है कि जस की तस । दुखिया सवेरे से निकल गया था । कुछ नास्ता-कलेवा भी नहीं किया था । और पंडितजी उसे बेगार में लगा देते हैं ।×××××× बेचारा डर और शंका के मारे कुछ कह भी नहीं सकता । पंडित-पंडिताइन तो खा-पीकर आराम से सो जाते हैं । उसे झूठे को भी खाने के लिए नहीं पूछते । दुखिया गांठ को चीरने में लग जाता है पर गांठ कहीं से फटती नहीं है । बीच में एक गोंड दुखिया की मदद के लिए आता है , पर वह भी जवाब दे जाता है । अन्ततः भूखा-प्यासा दुखिया वहीं पर ढेर हो जाता है । पंडितजी चमरौनें खबर भिजवाते हैं कि मुर्दा उठा ले जाए , किन्तु गोंड उनको धमकी देता है कि खबर-दार कोई लाश उठाने नहीं जाएगा । अब तो पुलिस-केस होगा । दुखिया की लाश रात-भर पड़ी रहती है । चमरौने में चमारिनें रो-रोकर आसमां उठा लेती हैं , पर लाश के पास कोई नहीं फटकता । लाश में अब गंध आने लगी थी । अन्ततः थक-हारकर पंडितजी खुद रस्सी का एक फंदा दुखिया के पैर में डालकर उसे गांव से बाहर खींच ले जाते हैं । दुखिया की लाश को गीध और गीदड़ , कुत्ते और कौए नोंच-नोंच कर खाते हैं । कहानी का अंतिम वाक्य है — " यही जीवन-पर्यन्त की भक्ति , सेवा और निष्ठा का पुरस्कार था । " 15

कहानी का शीर्षक बड़ा ही व्यंग्यात्मक है । कहीं भी कहानी में लेखक ने "सद्गति" शब्द का प्रयोग तक नहीं किया है । दुखिया की मौत पं. घासीराम के यहां बिना कुछ खाए बेगार करने से होती है । इस प्रकार परंपरागत सामंतवादी मूल्यों के हिसाब से तो यह मौत बड़ी अच्छी हुई — ब्राह्मण का काम करते-करते ब्राह्मण के दरवाजे पर मौत और वह भी एक शूद्र की ! हिन्दू धर्म में "सद्गति" के लिए और क्या चाहिए ?

डा. कांतिमोहन इस संदर्भ में सार्थक टिप्पणी करते हुए कहते हैं —" कहानी का शीर्षक भी अर्थपूर्ण है । मरकर भी अगर आदमी इस पाशविक व्यवस्था के चंगुल से छूटता है तो यह वाकई उसकी "सद्गति" ही है ।" [16] दुखिया मर जाता है पर उसके मन में यह विचार तक नहीं आता कि इस तरह उसे क्यों मरना चाहिए ? मरने से पहले जो अंतिम विचार उसके मन में आता है, वह यह है —" उठना भी पहाड़ मालूम होता था । जी डूबा जाता था, पर दिलको समझाकर उठा । पंडित है, कहीं साइत ठीक न विचारें, तो फिर सत्यानाश ही हो जाय । अभी तो संसार में इतना मान है । साइत का ही तो सब खेल है । जिसे चाहें बिगाड़ दें ।" [17] और दुखिया ऐसा क्यों न सोचता ? पंडितजी ने भी तो यही कहा था —" तुझसे जरा-सी लकड़ी नहीं फटती, फिर साइत भी वैसी ही निकलेगी, मुझे दोष मत देना ।" [18]

पंडित घासीराम की धार्मिक [?] दिनचर्या का भी लेखक ने बड़ा ही व्यंग्यात्मक चित्र खींचा है —" पं. घासीराम ईश्वर के परम भक्त थे । नींद खुलते ही ईशोपासना में लग जाते । मुह-हाथ धोते आठ बजते, तब असली पूजा शुरू होती, जिसका पहला भाग भंग की तैयारी थी । उसके बाद आधा घण्टे तक चंदन रगड़ते, फिर आईने के सामने एक तिलके से माथे पर तिलक लगाते । चंदन की दो रेखाओं के बीच में लाल केरी की बिन्दी होती थी । फिर छाती पर, बाँहों पर चंदन की गोल-गोल मुद्रिकाएं बनाते । फिर ठाकुरजी की मूर्ति निकालकर उसे नहलाते, चंदन लगाते, फूल चढ़ाते, आरती उतारते, घंटी बजाते । दस बजते-बजते वह पूजन से से उठते और भंग छानकर बाहर आते । तब तक दो-चार जजमान द्वार पर आ जाते । ईशोपासना का तत्काल फल मिल जाता । यही उनकी खेती थी ।" [19]

तथापि में " "सद्गति" लड़ते हुए सामंतवाद की गिरफ्त में तड़पते भारतीय ग्राम्य-जीवन का एक यथार्थवादी दर्दनाक दस्तावेज है । पिछले सौ वर्षों में पूंजीवादी और उच्चशिक्षा प्राप्त मध्यवर्गीय

नेतृत्व में चल रहे अछूतोद्धार आंदोलन का भारत के ग्रामों को क्या नक्द लाभ मिला था — " सद्गति" उसे बेपर्दा करने की एक ईमानदार लेखकीय कोशिश है ।"20

यहाँ दलित-विमर्श की दृष्टि से देखें तो दुखिया चमार में कोई दलित-चेतना नहीं है । वह अपनी स्थिति से संतुष्ट है । उसे पं. घासीराम पर न क्रोध आता है, न उनसे घृणा होती है । वह पुराने अंधविश्वासों में जी रहा है । फिर इसे दलित-विमर्श की कहानी कैसे माना जाए ? वस्तुतः कहानी का दलित-विमर्श उसके वैपरित्य में है । इन व्यक्तियों जिन्हें धार्मिक मानते हैं, दुखिया जिन्हें धार्मिक और पवित्र और महान और न जाने क्या-क्या मानता है, वे तथाकथित धार्मिक लोग किस प्रकार के हैं । दुखिया भूखा है, उसे एक कौर भी दिए बिना ये लोग निष्ठुर तरीके से उससे बेगार करवाते हैं । बैल को भी घास-चारा दिया जाता है । जब वह दम तोड़ देता है, तब भी उन्हें इस बात का कोई खास अफ़सोस नहीं होता । उन्हें उन चमारों पर क्रोध आता है जो मुर्दा उठाने नहीं आते । उन्हें उन चमारिनों से घिन आती है जो रो रही हैं । दुखिया जैसे लोगों में धर्म और धार्मिक कहे जाने वाले लोगों के प्रति कितना डर है । यह अन्याय और अत्याचार की पराकाष्ठा है जहाँ उसका भोग बनने वालों को उसका अहसास तक नहीं होता । यही दलित-विमर्श है इस कहानी का ।

(2) शूद्रा :

"शूद्रा" कहानी का प्रकाशन सन् 1926 में हुआ था । यह कहानी "मानसरोवर भाग-2 " में संकलित है । इस कहानी में प्रेमचंदजी ने गंगा और गौरा नामक दो माँ-बेटी की कथा-व्यथा लिया है । ये दोनों गाँव के दूसरे छोर पर एक झोंपड़ी में रहते थे ।

माँ विधवा थी, बेटी ब्याहने लायक हो गई थी। कहानी के शीर्षक से ही ज्ञात होता है कि वह दलित-जीवन से समबद्ध है। कहानी में ऐसा संकेत मिलता है कि कहानी की नायिका गौरा की माँ कहारिन है। एक दिन एक परदेशी कहार का घर पूछते-पूछते गंगा के घर जाता है, परंतु वह अपना खाना खुद बनाता है। इससे लगता है कि गंगा की जाति उससे भी नीची होगी और छोटी जातियों में भी ऊँच-नीच का जो संस्तरण है उसे भी लेखक ने स्पष्ट किया है। यह जो परदेशी है उसका नाम मंगरू है। वह गौरा से सगाई कर लेता है। पर इसी सबब उसका बहनोई उसके साथ खाना खाने के लिए नहीं बैठता। वह मंगरू से कहता है — " जब तक पंचायत न होगी मैं तुम्हारे साथ कैसे खा सकता हूं ? तुम्हारे लिए बिरादरी न छोड़ दूंगा। किसीसे पूछा न ताछा, जाकर हरजाई से सगाई कर ली।" (21)

इसके बाद कहानी में कई मोड़ आते हैं। मंगरू चार पैसे कमाने विदेश चला जाता है, एक दिन एक बूढ़ा ब्राह्मण गौरा लेने आता है, गंगा को उस पर विश्वास बैठता है, वह उसके साथ गौरा को भेज देती है, बूढ़ा गौरा को कलकत्ते से एक जहाज पर बिठा देता है जो मिरिच टापू जा रहा था, जहाज में उसकी मुलाकात एक विधवा ब्राह्मणी से होती है, गौरा को लगता है कि उसके साथ धोखा हुआ है, पर जहाज से उतरकर उसकी नज़र मंगरू पर पड़ती है, जो मजदूरों का मकदम था, मंगरू दोनों को अपने साथ ले जाता है, उधर गोरा एजण्ट मंगरू पर जोर डालता है कि वह दोनों में से एक औरत को उसके पास भेज दे, पर मंगरू ने गौरा को कौल दिया था कि वह उन दोनों की रक्षा करेगा, फलतः वह किसीको नहीं भेजता, गोरा एजण्ट चाबुक से मार-मार कर मंगरू की चमड़ी उधेड़ डालता है, मार से वह बेहोश हो जाता है, उधर गौरा मंगरू को बचाने गोरे एजण्ट के पास पहुंचती है, गौरा को पता चलता है कि वह गोरा एजण्ट अपनी

मृत माँ को बहुत ही चाहता है, वह उसकी दुखती रग पर हाथ रखते हुए कहती है कि उसके ऐसे लंपट व्यवहार से उसकी माँ को स्वर्ग में बहुत कष्ट होगा, इस बात से गोरा का हृदय पसीजता है और वह गौरा को छोड़ देता है, पर मंगरू को जब मालूम होता है कि गौरा एजण्ट के बंगले गई थी, वह गौरा के चरित्र पर शंका करने लगता है, जब गौरा को इस बात का पता चलता है तो वह नदी में छलांग मारकर आत्महत्या कर लेती है, मंगरू भी कूद पड़ता है, सवेरे लोग देखते हैं कि मंगरू और गौरा की लाशें साथ-साथ तैर रही थीं।

इस कहानी के द्वारा प्रेमचन्द यह प्रमाणित करना चाहते हैं कि पातिव्रत्य और पवित्रता पर केवल ऊँची जातियों की स्त्रियों का ही ठेका नहीं है, निम्न जाति की स्त्रियों में भी ये गुण पाये जाते हैं। ऊँची जाति की स्त्रियों को रोजी-रोटी के लिए उतना संघर्ष नहीं करना पड़ता, जितना कि निम्न जाति की स्त्रियों को करना पड़ता है। ऐसी विपरीत अवस्था में भी अपने धरम-करम को निभाने वाली औरतें निम्न जातियों में भी मिल जाती हैं। गौरा के साथ लेखक ने मंगरू के चरित्र को भी उभारा है। वह गौरा के आश्रित ब्राह्मणी को एजण्ट के पास भेज देता और खुद को बचा लेता, पर वह ऐसा नहीं करता। ब्राह्मणी की भी रक्षा के लिए वह अपने जान की बाजी लगा लेता है। इस प्रकार लेखक यह जताना चाहते हैं कि ऊँचे मानवीय गुण निम्न वर्ग के लोगों में भी हो सकते हैं।

§3§ मंदिर :

"मंदिर" दलित और शोषित चमार जाति की हुलिया नामक विधवा के विद्रोह और बलिदान की कहानी है। यह उस हृदयहीन व्यवस्था के प्रति दुर्धर्ष विद्रोह की कहानी है। ध्यान रहे जिन दिनों की यह कहानी है § कहानी सन् 1927 में प्रकाशित हुई थी §[22] उन

दिनों में मध्यवर्गीय शिक्षित वर्ग द्वारा महात्मा गांधी के नेतृत्व में दलितोद्धार का जो आंदोलन चल रहा था उसमें दलितों के लिए अलग मंदिर, जलाशय और छात्रावास के "कोर्टकट" भी खोजे जा रहे थे।[23]

"मंदिर" की कहानी कुछ इस प्रकार है: सुखिया नामक एक चमार विधवा है। उसका एक मात्र बच्चा जियावन बीमार पड़ता है। रात को स्वप्न में सुखिया को उसका पति दिखता है। स्वप्न में ही सुखिया मनौती मांग बैठती है कि बालक यदि अच्छा हो जायेगा तो वह मंदिर में जाकर भगवान की पूजा करेगी। कुछ देर के लिए बालक अच्छा हुआ, पर फिर शामको उसकी तबियत और खराब हुई। सुखिया का शंकित मातृ-हृदय सोचता है कि उसने मनौती पूरी नहीं की इसलिए बच्चे की तबियत फिर से खराब हुई। वह अपने चांदी के कड़े गिरवी रखकर पूजा का सब सामान खरीदती है और थाली सजाकर मंदिर पहुंचती है। पर उसे मंदिर में प्रवेशने नहीं दिया जाता। चमारिन के स्पर्श से भगवान के अपवित्र हो जाने का डर था। पतित-पावन भगवान की पवित्रता यह दांव दांव पर लगी हुई थी। पुजारी सुखिया का रुपया हड़प लेता है और उसकी तसल्ली के लिए उसे एक तावीज़ बनाकर देता है। परन्तु बच्चे की तबियत सुधरने के स्थान पर और खराब होती जाती है। आखिरकार रात के तीन बजे सुखिया अपने बच्चे को लेकर मंदिर जाती है। ताला तोड़कर मंदिर में जाने ही वाली थी कि पुजारी "चोर-चोर" चिल्लाने लगता है। आवाज़ सुनकर भगत-मंडली जमा हो जाती है। एक बलिष्ठ ठाकुर सुखिया को धक्का देता है, जिसमें उसका बालक नीचे फर्श पर गिर जाता है और उसके प्राण-पखेरू उड़ जाते हैं। उस समय सुखिया का जो पुण्य-प्रकोप है वह हृदय विदारक है। कुछ क्षण बाद उसी आघात में सुखिया के भी प्राण निकल जाते हैं। इस प्रकार यह कहानी ऊंची जाति के लोग धर्म और भगवान के नाम पर दलितों पर जो

अमानुषी अत्याचार गुजारते हैं उसको बेपर्द करती है । जब बच्चा मर जाता है उस समय दुखिया अपनी दोनों मुट्ठियों को बंद कर दांत पीसते हुए चीत्कार कर उठती है —

" पापियों , मेरे बच्चे के प्राण लेकर दूर क्यों खड़े हो ? [illegible] पारस को छूकर लोहा सोना हो जाता है , पारस लोहा नहीं हो सकता । मेरे छूने से ठाकुरजी अपवित्र हो जायेंगे । मुझे बनाया तो छूत नहीं लगी ? लो , अब कभी ठाकुरजी को छूने नहीं आऊंगी । ताले में बन्द रखो , पहरे बैठा दो । हाय , तुम्हें दया छू भी नहीं गई । तुम इतने कठोर हो । बाल-बच्चे वाले होकर भी तुम्हें एक अभागिन माता पर दया नहीं आयी । तिस पर धरम के ठेकेदार बनते हो । तुम सबके सब हत्यारे हो , निपट [illegible] हत्यारे । डरो मत , मैं थाना-पुलिस नहीं जाऊंगी । मेरा न्याय भगवान करेंगे , अब उन्हीं के दरबार में फरियाद करूंगी ।" [24]

कहानी में अस्पृश्यता के संबंध में और भी बातें पाई जाती हैं । दुखिया जब पूजा का सामान थाली में सजाकर मंदिर के लिए जाती है । उस समय एक भक्त महोदय कहते हैं —" मार के भगा दो चुड़ैल को । भरष्ट करने आयी है , फेंक दो थाली-वाली । संसार में आग ही आग लगी हुई है , चमार भी ठाकुरजी की पूजा करने लगेंगे , तो पिरथी रहेगी कि रसातल को चली जायेगी ।" [25] तो दूसरे भक्त महोदय बोल उठते हैं —" अब बेचारे ठाकुरजी को भी चमारों के हाथ का भोजन करना पड़ेगा । अब परलय होने में कुछ कसर नहीं है ।" [26]

इस प्रकार एक विशिष्ट वर्ग-वर्ण के लोगों को तमाम प्रकार की धार्मिक क्रियाओं से अलग रखना और फिर उन पर अपवित्र और संस्कारहीन होने का आरोप लगाना , यह तो चित्त भी मेरी , पट भी मेरी वाली बात है । कहानी के अंत में [illegible] दुखिया धर्म के उन ठेकेदारों को लताड़ते हुए उनके मंदिर को ही नकारती है

और सीधे भगवान से ही बात करने की बात करती है । उसीमें उसके मन का विद्रोह प्रकट होता है । यह विद्रोह इस समूची व्यवस्था के खिलाफ है ।

(५) पूस की रात :

"पूस की रात" कहानी का हल्कू किसान भी किसी पिछड़ी जाति का लगता है । वस्तुतः "पूस की रात" की समस्या वही है जो "गोदान" की है, अर्थात् ऋण की समस्या । "गोदान" का होरी भी कर्जदार होकर अन्ततः मजदूरी का काम करने लगता है और मजदूरी करते-करते ही दम तोड़ देता है । हल्कू ने माघ-पूस की हड्डी ठण्ड में रखवाली करने के लिए एक कम्बल लेने का सोचा था । उसके लिए उसने तीन रुपये भी सहेजकर रखे थे । परन्तु एन मौके पर सहना आ जाता है अपने पैसों की वसूली के लिए । सहना की गालियों और बदजबानी से बचने के लिए कम्बल के लिए सहेजे पैसे बदले वह सहना को थमा कर पिण्ड छुड़ाता है । खेतों की रखवाली उसे बिना कंबल के ही करनी पड़ती है, ऐसे में एक दिन ठण्ड के मारे आग सेंकते हुए उसकी आंख लग जाती है और नील गायें फसल का सत्यानाश कर डालती हैं । इस प्रकार प्रस्तुत कहानी दलित-वर्ग के लोगों की बदहाली और दरिद्रता पर प्रकाश डालती है । हल्कू और उसकी पत्नी मुन्नी के निम्नलिखित वार्तालाप से उनकी सामाजिक स्थिति पर प्रकाश पड़ता है —

"मुन्नी उसके पासते हुए हट गयी और आँखें तरेरते हुए बोली — कर चुके दूसरा उपाय । जरा सुनूं कौन उपाय करोगे ? कोई खैरात दे देगा कम्बल ? न जाने कितनी बाकी है जो किसी तरह चुकने में ही नहीं आती । मैं कहती हूं, तुम क्यों नहीं खेती छोड़ देते ? मर-मर कर काम करो, उपज हो तो बाकी दे दो, चलो छुट्टी हुई । बाकी चुकाने के लिए ही तो हमारा जनम हुआ

है । पेट के लिए मजदूरी करो । ऐसी खेती से बाज आये ।" [27] [28]
आगे वह कहती है —" तुम छोड़ दो अबकी से खेती । मजूरी में सुख से एक रोटी खाने को तो मिलेगी । किसीकी धौंस तो न रहेगी । अच्छी खेती है । मजूरी करके लाओ , वह भी उसीमें झोंक दो , उस पर से धौंस ।" [28]

यहां लेखक एक तथ्य शायद यह भी कहना चाहते हैं कि खेतीबाड़ी का काम भी पैसे वाले लोगों से ही सधता है । हल्कू के पास पैसे होते तो ऐसा न होता ।

§5§ मंत्र :

"मंत्र" कहानी की गणना प्रेमचन्दजी की श्रेष्ठ कहानियों में होती है । उसका प्रकाशन सन् 1928 में हुआ था । यह एक ऐतिहासिक तथ्य है कि आर्यसमाज और हिन्दू महासभा ने सन् 1922 के आसपास शुद्धि और "संगठन" के आंदोलन चलाये थे । ये लोग जो धर्म परिवर्तित करके ईसाइयत कबूल कर चुके थे उन्हें पुनः शुद्ध करके हिन्दू धर्म में दीक्षित कर रहे थे । इसके जवाब में मुसलमानों ने "तबलीग" और "तंजीम" के आंदोलन शुरू किये थे ।[29] प्रेमचंदजी इन दोनों कट्टरतावादी आंदोलन के खिलाफ थे क्योंकि ये साम्प्रदायिक सौमनस्य पर चोट करने वाले थे । प्रेमचंदजी ऐसे किसी भी प्रयत्न के खिलाफ थे होते थे जो राष्ट्रीय एकता में बाधक होता हो । प्रस्तुत कहानी में लेखक ने पं. लीलाधर चौबे के चरित्र के माध्यम से यह प्रदर्शित करने की कोशिश की है कि जब तक सवर्णों द्वारा अछूत जातियों को बराबरी का दर्जा नहीं दिया जाता और समाज-सुधारक उनके बीच रहकर रचनात्मक काम नहीं करते तब तक केवल हिन्दू धर्म की श्रेष्ठता या आर्य-जाति के महिमा-गान मात्र से अछूतों को विधर्मी होने से नहीं रोका जा सकता । इस प्रकार यह कहानी "धर्मान्तरण" की समस्या पर आधारित है । यह समस्या तब भी थी और अब भी है । कौन कह सकता है कि प्रेमचन्द

अब प्रासंगिक नहीं रहे । वस्तुतः प्रेमचन्द जितने प्रासंगिक तब थे उससे कई गुना ज्यादा आज है, क्योंकि पुनः दोनों तरफ के कट्टरवादी तत्व [फण्डामेण्टालिस्ट] सिर उठा रहे हैं ।

कुल कहानी इतनी है कि पं. लीलाधर चौबे को ऊपर उल्लिखित शुद्धियज्ञ के लिए एक आदिवासी-बहुल विस्तार में भेजा जाता है । पहली ही सभा में उनका सामना एक बूढ़े अछूत से होता है :

बूढ़ा — आप जब इन्हीं महात्माओं की संतान हैं तो फिर ऊंच-नीच में क्यों इतना भेद मानते हैं ?

लीलाधर — इसलिए कि हम पतित हो गए हैं — अज्ञान में पड़कर उन महात्माओं को भूल गए हैं ।

बूढ़ा — अब तो आप की निद्रा टूटी है, हमारे साथ भोजन करोगे ?

लीलाधर — मुझे कोई आपत्ति नहीं है ।

बूढ़ा — मेरे लड़के से अपनी कन्या का विवाह कीजिएगा ?

लीलाधर — जब तक तुम्हारे जन्म-संस्कार न बदल जाएं, जब तक तुम्हारे आहार-व्यवहार में परिवर्तन न हो जाए, हम तुमसे विवाह का संबंध नहीं कर सकते । मांस खाना छोड़ो, मदिरा पीना छोड़ो, शिक्षा ग्रहण करो, तभी तुम उच्च वर्ण के हिन्दुओं में मिल सकते हो । ....

बूढ़ा — ऋषियों को मत बदनाम कीजिए । यह सब पाखंड आप लोगों का रचा हुआ है । आप कहते हैं — तुम मदिरा पीते हो, लेकिन आप मदिरा पीने वालों की जूतियां चाटते हैं । आप हमसे मांस खाने के कारण घिनाते हैं; लेकिन आप गो-मांस खानेवालों के सामने नाक रगड़ते हैं । इसलिए न कि वे आपसे बलवान हैं । हम भी आज राजा हो जाएं, तो आप हमारे सामने हाथ बांधे खड़े रहेंगे । आपके धर्म में वही ऊंचा है जो बलवान है; वही नीच है, जो निर्बल है । यही आपका

धर्म है ?" 30

इस प्रकार पंडितजी की दाल यहाँ नहीं गलती । उधर गाजियों ने उन पर हमला बोल दिया और उनको मरा हुआ समझकर चले गये । संयोगवश उसी बूढ़े ने उनको देखा तो वे उसे उठाकर गाँव ले आये । उनकी खूब सेवा-शुश्रुषा करके उनको बचा लिया । हिन्दू सभा और उनके परवालों ने उनकी कोई खोज-खबर न ली । कुछ समय बाद गाँव अचानक प्लेग की चपट में आ गया । गाँववालों ने चौबेजी को खूब अनुरोध किया कि वे अपने गाँव लौट जाए । पर पंडितजी इस से मस नहीं होते हैं । खूब जी-जान लगाकर , अपनी जान की परवाह किए बिना वे उस बूढ़े की सेवा- शुश्रुषा में जुट गये और अपनी लगन और त्याग से उन्हें मौत के मुँह से निकाल लाये । और उसके बाद --

" पंडितजी ने किसीको शुद्ध नहीं किया । उन्हें अब शुद्धि का नाम लेते शर्म आती थी -- मैं भला इन्हें क्या शुद्ध करूँगा , पहले अपने को तो शुद्ध कर लूँ । ऐसी निर्मल एवं पवित्र आत्माओं की शुद्धि के ढोंग से अपमानित नहीं कर सकता ।" 31

यह मंत्र ही था जो उन्होंने उन चांडालों से सीखा था ; और इसीके बल पर वह अपने धर्म की रक्षा करने में सफल हुए थे । पंडितजी अभी जीवित हैं ; पर अब सपरिवार उसी प्रान्त में उन्हीं भीलों के साथ रहते हैं ।

(6) कफ़न :

यह प्रेमचंदजी की एक अत्यधिक चर्चित कहानी है । उसका प्रकाशन सन् 1936 में हुआ था । प्रेमचंदजी की सर्वाधिक चर्चित कहानी होने के बावजूद यह "मानसरोवर " के आठों भागों में से किसीमें भी संकलित नहीं है , यह एक आश्चर्य की बात है । इस कहानी के नायक घीसू और माधव चमार हैं , लेकिन इस कहानी का अछूत समस्या से कोई संबंध नहीं है । वस्तुत : यह मनुष्य के अमानवीय होने की

त्रासदी की कहानी है ।

घीसू और माधव दोनों अव्वल दरजे के कामचोर और आलसी है । गांव के खेतों से आलू वगैरह वे उखाड़ लाते हैं और भूनकर खाते हैं । जब दो-चार दिन फाके होते हैं तब कुछ लकड़ियां वगैरह लाकर उनको बेचकर अपना काम चलाते हैं । किसानों का गांव है । " मेहनती आदमी के लिए पचास काम थे । मगर इन दोनों को उसी वक्त बुलाते, जब दो आदमियों से एक का काम पाकर भी संतोष कर लेने के सिवा और कोई चारा न होता ।" [32] अगर ये दोनों साधु होते तो उन्हें संतोष और धैर्य के लिए अधिक अभ्यास की जरूरत न रहती । यह तो इनकी प्रकृति थी । "विचित्र जीवन था इनका । घर में मिट्टी के दो-चार बर्तनों के सिवा कोई संपत्ति नहीं । फटे चीथड़ों से अपनी नग्नता को ढांके हुए जिये जाते थे । संसार की चिन्ताओं से मुक्त । कर्ज से लदे हुए । गालियां भी खाते, मार भी खाते, मगर कोई भी गम नहीं । मटर-आलू की फसल में दूसरों के खेतों से मटर या आलू उखाड़ लाते और भून-भानकर खा लेते या दस-पांच ऊख उखाड़ लाते और रात को चूसते । घीसू ने इसी आकाशवृत्ति से साठ साल की उम्र काट दी थी और माधव भी सपूत बेटे की तरह बाप ही के पद-चिह्नों पर चल रहा था । बल्कि उसका नाम और भी उजागर कर रहा था ।" [33]

परन्तु जब से माधव का ब्याह हुआ था, इन लोगों के जीवन में कुछ तरतीब आयी थी । वह औरत मेहनत-मजदूरी करके इन×दो इन दो बेगैरत इन्सानों का पेट भरती थी । वही औरत आज प्रसव-पीड़ा में छटपटा रही थी और ये लोग बाहर बैठकर आलू भूनकर खाने की सोच रहे थे । दो बैलों कोई भी अन्दर झांकने नहीं जाता । एक मर्यादा का बहाना बनाता है तो दूसरा कहता है कि उससे उसकी पीड़ा देखी नहीं जायेगी । पर वस्तुतः

इन दोनों को चिन्ता थी आलुओं की कि थी कि अगर वहां से हटेंगे तो दूसरा आलू निकालकर खा जायेगा । ऐसे में माधव की स्त्री दम तोड़ देती है । ये लोग रो-गाकर गांव के जमींदार से कफ़न के लिए कुछ पैसे ले आते हैं और जब जमींदार पैसे देता है तो दूसरे लोग भी मरने वाली का लिहाज कर कुछ-न-कुछ तो दे ही देते हैं । जब अच्छी-खासी रकम इकट्ठा हो जाती है, तब ये लोग बाजार कफ़न खरीदने जाते हैं । इधर-उधर घूम-फिरकर ये लोग सांझ कर देते हैं और कफ़न के सारे पैसे खाने-पीने में उड़ा देते हैं । जब माधव घीसू से पूछता है कि अब मरनेवाली का कफ़न कहां से आयेगा, तब घीसू कहता है — " उसे ! बहुको ! कफ़न वही लोग देंगे जिन्होंने कि अबकी दिया । हां, अबकी रुपये हमारे हाथ न आयेंगे ।"[34]

यह कहानी घीसू और माधव के अलावा किसीकी भी हो सकती है । ये तो चमार हैं । पर ये किसी भी जाति के हो सकते हैं । दलित-समस्या से इसका कोई दूर-दराज का भी नाता नहीं है । इस संदर्भ में डा. कांतिमोहन कहते हैं — " असलियत यह है कि प्रेमचन्द इस कहानी में 1936 के भारत की एक नयी सचाई पेश करना चाहते हैं । घीसू और माधव अपने पूर्वज खेतमजदूरों से गुणात्मक रूप से भिन्न हैं । वे ग्रामीण सर्वहारा के उस तबके के प्रतिनिधि हैं जिसे लुंपन सर्वहारा कहा जाता है और जो भारत पर 1929 की भीषण विश्वमंदी के प्रभाव के फलस्वरूप हमारे देश में जन्म ले रहा था । यह तबका भारतीय ग्रामों की विशिष्ट परिस्थितियों की ही उपज था और अपनी आदत के मुताबिक प्रेमचंद इस कहानी में उसका संकेत भी दे देते हैं ।"[35]

" जिस समाज में रात-दिन मेहनत करने वालों की हालत उनकी हालत से कुछ अच्छी न थी, और किसानों के मुकाबले वे लोग, जो किसानों की दुर्बलताओं से लाभ उठाना जानते थे, कहीं ज्यादा

संपन्न थे , वहाँ इस तरह की मनोवृत्ति का पैदा हो जाना कोई अचरज की बात न थी ।"[36]

इस कहानी से प्रेमचन्द ने यह भी प्रश्न ध्वनित किया है कि समाज में कामचोरी की प्रवृत्ति क्यों बढ़ती है ? जिस समाज में श्रम का महत्त्व कम होगा और मुफ्तखोर मजे लूटेंगे उस समाज में माधव और धीसू जैसे लोग जन्मेंगे और हम देख रहे हैं कि ऐसे लोग हर क्षेत्र में बढ़ रहे हैं ।

(7) सौभाग्य के कोड़े :

कई बार वर्तमान के कटु प्रसंग जीवन के लिए ऊर्ध्वगामी बन जाते हैं । तुलसीदास को यदि रत्नावली ने न डांटा होता या नरसिंह मेहता को उनकी भाभी ने उलाहना न दिया होता तो ये दोनों इतने बड़े कवि एवं भक्त न हो पाते । प्रस्तुत कहानी में लखनऊ के रायसाहब ने नत्थू या नथवा को हंटर या कोड़ों से न पीटा होता तो शायद वह नथुवा ही बनकर रह जाता और संगीत-मार्तण्ड न. रा. आचार्य न बनता । इस प्रकार रायसाहब के कोड़े नथुवा के लिए "सौभाग्य के कोड़े " सिद्ध होते हैं ।

यह कहानी सन् 1924 के जून महीने में प्रकाशित हुई थी । [37] और यह प्रेमचंद के आरंभिक दौर की कहानी है , जब उन पर स्वामी दयानंद सरस्वती और महात्मा गांधी का प्रभाव था । अतः यह एक आदर्शवादी कहानी है । "सब भला अगर अंत भला " वाली थ्योरी यहाँ भी मौजूद है । हम अनेक बार कह चुके हैं कि प्रेमचंदजी में एक विकास हमें निरंतर मिलता है । यह विकास वस्तु-चयन और शिल्प में ही नहीं उनकी विचार-धारा में भी परिलक्षित किया जा सकता है । पर एक बात है आर्यसमाजी प्रेमचन्द या, गांधीवादी प्रेमचन्द हो , एक बात उनके लेखन में हमेशा और प्रारंभ से ही रही है , और वह है

उनकी वस्तुवादी एक वेधक समाज को आरपार देखनेवाली दृष्टि । उसके कारण ही बाद में वे यथार्थवादी कला के उच्च आयामों को छू सके । कहानी कुल इतनी है : लखनऊ के जमींदार रायसाहब एक भंगी बच्चे को ईसाई बनने से रोक लेते हैं । उसे अपने यहाँ रख लेते हैं । रायसाहब की बेटी रत्ना दया की देवी थी । वह नथुवा का बहुत ख्याल रखती है । नथुवा रत्ना का मुँहलगा-सहेला नौकर-सा हो जाता है । एक दिन नथुवा को क्या होता है कि वह रत्ना के पलंग पर सो जाता है । उसे बड़े सुख का अनुभव होता है । अपनी मस्ती में उसे ध्यान नहीं रहता कि कब रायसाहब आ गये । रायसाहब उसे रत्ना के पलंग पर लेटा देख आगबबूला हो जाते हैं और अपना हण्टर लेकर उस पर पील पड़ते हैं । रत्ना बीच-बचाव करके उसे छुड़वाती है । वहाँ से छूटकर वह अपनी बिरादरी के मुहल्ले में जाता है । वहाँ संगीत का कोई जलसा था । सब भंगी शहनाई और तबला वगैरह बजाते थे । नथुवा भी वहाँ अपना गायन सुनाता है । उसमें उस्ताद धुरे भी पधारे हुए थे । वे इस हीरे को पहचान लेते हैं । उस्ताद नथुवा को अपने साथ ले जाते हैं । वहाँ से उस्ताद को ग्वालियर जाना पड़ता है । ग्वालियर के संगीत-समारोह में नथुवा छा जाता है । ग्वालियर के संगीत विद्यालय के अध्यक्ष उस्ताद धुरे से साग्रह निवेदन करते हैं कि वे नाथूराम को संगीत विद्यालय में भर्ती कराके उसे संगीत का विधिवत् कोर्स करायें । पाँच वर्षों में नाथूराम विद्यालय की सर्वोच्च उपाधि प्राप्त कर लेता है । नाथूराम अब ना. रा. आचार्य के नाम से जाना जाता है । 18 वर्ष की आयु में ना. रा. आचार्य को वह ख्याति मिलती है जिसकी कोई कल्पना तक नहीं कर सकता । परंतु ज्ञान की लालसा बढ़ती ही जाती है, अतः वे योरोप के लिए प्रस्थान करते हैं । पाश्चात्य-संगीत को भी वे आत्मसात करना चाहते थे । वे जर्मनी के सबसे बड़े संगीत-विद्यालय में प्रवेश लेते हैं और पाँच वर्षों के कठोर परिश्रम, साधना के उपरांत वहाँ से भी आचार्य की उपाधि

हासिल करके इटली की सैर करके खूब नाम-दाम कमाते हुए अन्ततः ग्वालियर लौट आते हैं। लखनऊ की एक कंपनी में आचार्य को मासिक तीन हजार रुपये का एक सम्मानित पद मिलता है। अतः आचार्य लखनऊ आ जाते हैं। इधर रायसाहब की माली हालत बहुत खराब हो जाती है। उनका बंगला नीलाम हो जाता है। उसी बंगले में आचार्य को ठहरा जाता है। रायसाहब अपनी बेटी रत्ना का विवाह आचार्य से कर देते हैं, हालांकि उन्हें यह मालूम नहीं कि यह वही नवुवा है, जो अब ना.रा. आचार्य हो गया है। आचार्य रायसाहब से कहते हैं कि योरोप-यात्रा के पश्चात् अब वे वर्ण-भेद नहीं मानते। कर्म से चाहे जो कुछ हों, जन्म से तो शूद्र ही हूं। तब रायसाहब कहते हैं: "मैं भी कर्मों से ही वर्ण मानता हूं। नम्रतापूर्ण विनय, आचार, धर्मनिष्ठा, विद्याप्रेम यह सब ब्राह्मणों के ही गुण हैं। मैं आपको ब्राह्मण ही समझता हूं। जिसमें ये गुण नहीं वह ब्राह्मण नहीं, कदापि नहीं।"[38] हालांकि रत्ना उन्हें अब पहचान लेती है। आचार्य रत्ना से कहते भी हैं कि क्या वे रायसाहब को सबकुछ बता दें तब रत्ना कहती है कि भूलकर भी न कहना, अन्यथा आत्मग्लानि से वे आत्महत्या कर लेंगे।

इस प्रकार कहानी सन् 1924 की है। तब तक दयानंद और गांधी दोनों कर्म से वर्ण वाली थ्योरी को मानने लगे थे, अतः लेखक भी अपनी कहानी को वहां तक ले आये हैं। तथापि दोनों का विवाह कराके उन्होंने एक साहस का परिचय तो दिया ही है। फिर भी लेखक कहीं-कहीं सार्थक व मार्मिक टिप्पणी करने में नहीं चूका है। यथा —"इन्हें (रायसाहब को) इसकी परवाह न हुई कि मिशन में उसकी शिक्षा होगी, आराम से रहेगा, उन्हें यह मंजूर था कि वह हिन्दू रहे। अपने घर के झूठे भोजन को वह मिशन के भोजन से कहीं पवित्र समझते थे। उनके कमरों की सफाई मिशन पाठशाला की पढ़ाई से बढ़कर थी। हिन्दू रहे, चाहे

जिस दशा में रहे । ईसाई हुआ तो फिर सदा के लिए हाथ से निकल गया ।"39 ध्यान रहे यह तब प्रेमचन्द सन् 1924 में लिख रहे थे और सन् 1922 में आर्यसमाज और हिन्दू महासभा अपना हिन्दुओं की "शुद्धि" का कार्यक्रम चला रहे थे ।[40] अभिप्राय यह कि अपने समय के कट्टर तत्वों से टकराने का साहस प्रेमचन्दजी ने हमेशा दिखाया है । मथवा जब सभी कथाओं में दृश्य होजाता है , तब वहां लेखक की एक टिप्पणी है —" ऐसे कितने ही रत्न पड़े हुए हैं , जो किसी पारखी से भेंट न होने के कारण मिट्टी में मिल जाते हैं ।" [41]

§8§ घासवाली :

"घासवाली " कहानी का प्रकाशन सन् 1929 में हुआ था । घासवाली मुलिया चमार की घरवाली थी । वह अत्यन्त ही सुंदर थी । गांव के युवक उसकी एक चितवन को तरसते थे । एक दिन वह घास काटने जाती है तब युवा ठाकुर चैनसिंह उसका हाथ पकड़ लेता है । परंतु मुलिया जरा भी डरे या झिझके बिना ठाकुर को झिड़क देती है कि छोड़ दो नहीं तो मैं चिल्लाती हूं । ठाकुर अपना-सा मुंह लेकर चल देता है । दूसरी बार जब मुलिया से उसकी भेंट होती है तब वह उसे अपने तर्कों से निरस्त्र कर देती है । अब मूला के प्रति चैनसिंह का नजरिया बदल जाता है । एक दिन चैन-सिंह देखता है कि मूला को शहर में अपनी घास बेचने के लिए दो-दो टके के लोगों के हंसी-मजाक बर्दाश्त करने पड़ते हैं तब वह उसके आदमी को बुलाकर कहता है :" तुम मुझसे एक रुपया रोज ले लिया करो , बस मैं जब बुलाऊं तो इक्का लेकर चले आया करो । तब तो तुम्हारी घरवाली को घास लेकर बाजार न जाना पड़ेगा । ... तुम्हारी आबरू मेरी आबरू है । और भी रुपये-पैसे का जब काम लगे , बेखटके चले आया करो । हां , देखो , मुलिया से इस बात की भूलकर भी चर्चा न करना ।" [42]

लेकिन महावीर मुलिया को सबकुछ बता देता है । इसके बाद मुलिया पहलकदमी करके खुद चैनसिंह से मिलती है । एकाएक वह मुस्कुराके चैनसिंह से कहती है — " वहीं तुमने मेरी बाँह पकड़ी थी । " चैनसिंह लज्जित होकर कहता है — " उसको भूल जाओ मूला । मुझ पर न जाने कौन-सा भूत सवार था । " तब मुलिया गद्गद कंठ से कहती है — " उसे क्यों भूल जाऊँ ? उसी बाँह गहे की लाज तो निभा रहे हो । गरीबी आदमी से जो चाहे करावे । तुमने मुझे बचा लिया । "[43] यही कहानी है "घासवाली" की ।

इसमें दूसरी मुलाकात में मुलिया के प्रगल्भतापूर्ण तर्क दलित-विमर्श की दृष्टि से महत्वपूर्ण है — " अगर मेरा आदमी तुम्हारी औरत से इसी तरह बात करता , तो तुम्हें कैसा लगता ? ... क्या समझते हो कि महावीर चमार है तो उसकी देह में लहू नहीं है , उसे लज्जा नहीं है , अपनी मर्यादा का विचार नहीं है ? ... मुझसे दया माँगते हो , इसलिए न कि मैं चमारिन हूँ , नीच जाति की हूँ और नीच जाति की औरत जरा-सी धमकी या जरा से लालच से तुम्हारी मुट्ठी में आ जायेगी । कितना सस्ता सौदा है । ठाकुर हो न , ऐसा सस्ता सौदा क्यों छोड़ने लगे ? "[44]

दूसरे मुलिया तथाकथित ऊँची जातियों पर भी ~~प्रहार~~ प्रहार करती है : " मैं भी रोज बाजार जाती हूँ । बड़े-बड़े घरों का हाल जानती हूँ । मुझे किसी बड़े घर का नाम बता दो , जिसमें कोई ~~साईस~~ साईस , कोई कोचवान , कोई कहार , कोई पंडा , कोई महाराज घुसा न बैठा हो ? और वह औरतें जो कुछ करती हैं , ठीक करती है । उनके घरवाले भी तो चमारिनों और कहारिनों पर जान देते फिरते हैं । लेना-देना बराबर हो जाता है ।"[45]

इस तरह इस कहानी के द्वारा प्रेमचंद यह साबित करना चाहते हैं कि सदियों से शोषित , प्रताड़ित और पशुवत जीवन व्यतीत करने वाले अछूत तबकों में भी आत्मसम्मान की ज्योति है और इसके ~~प्रकाश~~ प्रकाश में सवर्ण भी अपनी भूल सुधार सकते हैं ।

(9) देवी :

यह कहानी अप्रैल 1935 में "चाँद" नामक पत्रिका में प्रकाशित हुई थी । यह कहानी भी "मानसरोवर " के किसी भी भाग में संग्रहीत नहीं है । प्रस्तुत कहानी की तुलिया भी×धुलमा× भी एक चमारिन है । वह एक सती-साध्वी स्त्री है । वस्तुतः तुलिया ने तो अपने पति को देखा तक नहीं है । जो कुछ उसके पास है, पति के हाथों से लिखी बिहङ× चिट्ठियाँ ही हैं । ये ही विशिष्ट चिट्ठियां उसका जीवन -पाथेय है । वह चमारिन है । नीच जाति की है और उनके यहां तो पुनर्विवाह या विधवा-विवाह वर्जित नहीं है । फिर भी तुलिया केवल पति की चिट्ठियों के सहारे वैधव्य गुजार लेती है । महा-देवी कृत रेखाचित्र "घीसा" में भी घीसा की माँ एक आदिवासी औरत है । उसका आदमी भी घीसा के जन्म के पूर्व ही गुजर गया है । चाहती तो दूसरा विवाह कर सकती थी, पर वह ऐसा नहीं करती । इस कहानी के पीछे भी लेखक का उद्देश्य यही प्रमाणित करना है कि चमार जैसी नीच-दलित जातियों में भी तुलिया जैसी सती-साध्वी स्त्रियां हो सकती हैं, जो विधवा-विवाह की स्वतंत्रता के रहते हुए भी पति के नाम पर पूरी जिन्दगी गुजार सकती हैं । इतना ही नहीं एक मुसीबतज़दा औरत को उसका अधिकार दिलाने के लिए वह अपना सतीत्व भी दाँव पर लगा देती है । हुआ था यों कि ठाकुर बंसीसिंह की मृत्यु के उपरान्त उसका भाई गिरधरसिंह उसकी सारी जायदाद को हथिया लेता है, इतना ही नहीं, अपनी भाभी, बंसीसिंह की विधवा को घर से भी निकालने को उद्यत हो जाता है । यह वही बंसीसिंह है जिसने एक बार तुलिया का हाथ पकड़ा था और उस पर तुलिया ने उसे वह फटकार सुनायी थी कि वह गैरतमंद ठाकुर आत्महत्या कर लेता है । तुलिया सोचती है, परोक्ष रूप से ही सही, पर बंसीसिंह की विधवा की आज जो हालत है, उसके पीछे उसकी वह फटकार भी कहीं-न-कहीं कारणभूत है । ठकु-राइन तो सतीत्व की सीमा भी लांघने को तैयार हो जाती है

पर तुलिया उसे वैसा करने से रोकती है और गिरधर को सबक सिखाने के लिए ठकुराइन की जगह वह चली जाती है । कहानी का अन्त इस प्रकार है —

" गिरधर ने एक छन तुलिया के चेहरे की तरफ देखा , जिस पर इस समय एक दैवी तेज विराज रहा था , और एकाएक जैसे उसकी आँखों के सामने से पर्दा हट गया और सारी साजिश समझ में आ गयी उसने सच्ची श्रद्धा से तुलिया के चरणों को चूमा और बोला – समझ गया तुलिया तू देवी है । " 46

इस तरह "देवी" कहानी की तुलिया एक तरह से तो "घासवाली" कहानी की मुलिया जैसी ही है । वह भी मुलिया की तरह बहुत खूबसूरत है । ठाकुर वंशीसिंह इसलिए उसके सामने प्रणय-निवेदन करता है । "घासवाली" कहानी में ठाकुर चैनसिंह के व्यवहार में कुछ परिवर्तन दिखाया है , यहाँ तुलिया के पुण्य-प्रकोप के कारण ठाकुर आत्महत्या ही कर लेता है ।

(1.9) ठाकुर का कुआँ :
============

यह भी प्रेमचंदजी की एक चर्चित दलित-विमर्श-संपन्न कहानी है । प्रेमचंद की कहानियाँ "मानसरोवर" भाग- 1 से 8 में तो बाद में संकलित हुईं । सर्वप्रथमx पहले यह कहानी प्रेमचन्द के कहानी संग्रह "ठाकुर का कुआँ " में ही संगृहीत थी । इस संग्रह में प्रेमचन्दजी की नौ कहानियाँ हैं । यह एक छोटी-सी कहानी है । इसका प्रकाशन अक्तूबर सन् 1932 में हुआ था । गंगी का पति जोखू बीमार है । गाँव में तीन कुएं हैं — एक चमारों का , एक ठाकुर का और एक साहू का । चमारों के कुएं में कोई जानवर गिरकर मर गया था । इसलिए गंगी अपने बीमार पति को उसका गंदा पानी नहीं पिलाना चाहती थी । गंगी दूसरा पानी लाने के लिए पति से कहती है । जोखू कहता है कि दूसरा पानी वह कहाँ से लायेगी । वह उसके

सामने गांव का बड़वा और कठोर सत्य रख देता है :

"ठाकुर और साहू के दो कुएं तो हैं । क्या एक लोटा पानी न भरने देंगे ? ... हाथ-पांव तुड़वा आयेगी और कुछ न होगा । बैठ चुपके से । ब्राह्मण देवता आशीर्वाद देंगे, ठाकुर लाठी मारेंगे, साहूजी एक के पांच लेंगे । गरीबों का दर्द कौन समझता है । हम तो मर भी जाते हैं तो कोई दुआर पर झांकने नहीं आता, कंधा देना तो बड़ी बात है । ऐसे लोग कुएं से पानी भरने देंगे ।" 47

पर गंगी का मन नहीं मानता है और वह ठाकुर के कुएं पर सांझ के झुटपुटे में पानी भरने जाती है । वह घड़ा भर भी लेती है, पर जैसे ही घड़ा कुएं के मुंह तक आ पहुंचा कि अचानक ठाकुर का दरवाजा खुला — "शेर का मुंह इससे भयानक न होगा ।" यह एक वाक्य ठाकुर के आतंक को स्पष्ट करने के लिए काफी है । पानी भरने से पहले गंगी कुएं के जगत पर बैठकर वह जो सोचती है वह भी गौरतलब है — "हम क्यों नीच हैं और ये लोग क्यों ऊंच हैं ? इसलिए कि ये लोग गले में तागा डाल लेते हैं । यहां तो जितने हैं, एक से एक छंटे हैं । चोरी ये करें, जाल-फरेब ये करें, झूठे मुकदमे ये करें । अभी इस ठाकुर ने तो उस दिन बेचारे गड़रिये की एक भेड़ चुरा ली थी और बादमें मारकर खा गया । इन्हीं पंडितजी के घर में बारहों मास जुआ होता है । यही साहूजी तो घी में तेल मिलाकर बेचते हैं । काम करा लेते हैं, मजूरी देते नानी मरती है । किस बात में हैं हम से ऊंचे ।" 48

गंगी ठाकुर के कुएं से जगत से कूदकर भागती है । घर पहुंचकर देखा कि जोखू लोटा मुंह से लगाये वही मैला-गंदा पानी पी रहा था । यही कहानी का अंत है । जोखू बीमार है और गंदा पानी पी रहा है, उसका क्या हुआ होगा, इसे लेखक ने पाठकों की कल्पना पर छोड़ दिया है । इस प्रकार यह भी एक ऐसी कहानी है जिसमें ऊंचे कहे जाने वाले लोगों की नीचता को व्यंजित किया गया है । लेखक उस समाज-व्यवस्था पर प्रश्न खड़ा कर देता

है जहां कुछ लोगों के पनघट अलग होते हैं, मरघट अलग होते हैं, अलग नहीं होती हैं उनकी स्त्रियां उनके लिए तो हमेशा उनकी जीभ से लार टपकती रहती है ।

(11) लांछन :

यह कहानी मुंशी श्यामकिशोर तथा देवीरानी की है । इसमें दलित-संदर्भ केवल मुन्नू मेहतर नामक एक दलित पात्र के कारण आता है । कहानी के शीर्षक का संबंध भी उक्त श्यामकिशोर और देवीरानी से ही जुड़ा हुआ है । मुन्नू मेहतर मुंशी श्यामकिशोर के यहां सफाई काम के लिए आता है । मुन्नू सेठ-सेठानियों की मानसिकता से भलीभांति परिचित है । थोड़ा-बहुत स्त्री-मनोविज्ञान भी अनुभव से जान गया है । वह देवीरानी की कमजोरी को भांप लेता है और जब-तब उसके सौन्दर्य की, उसके गोरेपन की तारीफ करता रहता है । फलतः देवीरानी भी उसे एक-दो रुपये देती रहती है । मुहल्ले में एक रजा मियां भी रहते हैं । उनकी जूते की दुकान है । अच्छा-खासा कमा लेते हैं । देवी पर उनकी बुरी निगाह है । इस पर मुन्नू आग को हवा देने का काम करता है । एक स्थान पर वह कहता है —" अब सरकार से क्या कहूं । बड़ी-बड़ी ठकुरानियों को देखता हूं, मगर गोरेपन के सिवा और कोई बात नहीं, उनमें यह नमक कहां सरकार ।" [49] इस प्रकार मुन्नू रजा मियां को भी ललचाता है । इस सबमें उसका स्वार्थ केवल दोनों तरफ से पैसे ऐंठना ही है । ये दोनों मिलकर ऐसी परिस्थितियां पैदा कर देते हैं, देवी को वे इतनी लांछित कर देते हैं, मुंशी श्यामकिशोर के मन में शंका के कीड़े डाल देते हैं कि अन्ततः देवी घर छोड़ने पर मजबूर हो जाती है । इस बीच में इन दोनों की संतान छोटी-सी गुड़िया शारदा मोटर के नीचे आकर मर जाती है । रज्जूमियां ने जो खिलौने दिये थे वे दिखाने अपनी सहेली के यहां जा रही थी । इस घटना से मुंशीजी का दिल

पूरी तरह से टूट जाता है । मुन्नू देवी को रज्जूमियाँ के यहाँ ले जाता है । वह उसे एक अलग मकान देने की बात करता है । इस प्रकार कहानी में कुछ इस प्रकार के संकेत मिलते हैं कि वे दोनों मिलकर देवी को पथ-भ्रष्ट करने में सफल हो जाते हैं और मुंशीजी गंगा में डूबकर आत्म-हत्या कर लेते हैं ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रेमचंदजी की कहानियों में जो दलित-संदर्भ मिलते हैं उनमें किसी प्रकार का दुराग्रह या पूर्वाग्रह नहीं होता । सभी सवर्ण पात्र बुरे होते हैं और दलित पात्र अच्छे होते हैं, ऐसा नहीं है । अच्छे-बुरे लोग हर जाति-संप्रदाय में हो सकते हैं । शहरी जीवन के इतने दबाव होते हैं कि उसमें दलितों के भी विचलित होने की अनेक संभावनाएं हैं । यहाँ मुन्नू कुछ रूपयों की लालच में एक हंसते-खेलते परिवार को अपनी नीच हरकतों से बरबाद कर देता है ।

(12) बाँड़म :

यह कहानी सन् 1923 में प्रकाशित हुई थी और यह मानसरोवर भाग-8 में संगृहीत है । इस कहानी में दलित-संदर्भ प्रत्यक्षतः नहीं अपितु परोक्ष रूप में मिलता है । इस कहानी से इस तथ्य पर प्रकाश पड़ता है कि सन् 1923 तक अछूत जातियों के प्रति हिन्दुओं की तरह मुसलमानों के व्यवहार में भी कोई खास फर्क नहीं था । ऊँचे खानदानी मुसलमान ऊँचे हिन्दुओं की भाँति दलित जातियों का यौन शोषण करते थे और दूसरी ज्यादतियों से कन्नी काट जाते थे । इसमें बाँड़म नामक एक मुस्लिम चरित्र है । नाम तो कुछ और है पर वह दूसरे खानदानी लोगों की तरह नहीं सोचता, जिसका उन समझदार लोगों की निगाह में यह सच्चा हीरा "बाँड़म" है । ऐसे लोग हर समाज और युग में "मिस फिट" होते हैं । बाँड़म भी अपने खानदान में "मिस फिट" है । बाँड़म बताता है कि उनके परदादा को

जवानी में किसी चमारिन से इश्क हो गया था । उससे दो बच्चे और एक लड़की हुई थी । लड़की को गोद में छोड़कर वह मर गयी । ये तीनों बच्चे बाँड़म के यहाँ यतीमों की तरह पलते हैं । बाँड़म से यह देखा नहीं जाता और एक दिन वह इन बच्चों को अपने दस्तरखान पर खिलाता है ।" आखिर वह भी तो हमारा ही खून है । इसलिए मैं बाँड़म हूं ।" [50] एक फर्क फिर भी यहाँ है । इस परिवार में ये बच्चे रहते थे , भले यतीमों की तरह ही सही । किसी ठाकुर या ऊँचे वर्ण के हिन्दू के यहाँ इसकी गुंजायश नहीं होती ।

[1.3] जुरमाना :

यह कहानी प्रेमचन्द की अन्य कहानियों से अलग इस माने में है कि इसमें जो दलित मेहतर हैं वे मुसलमान हैं । हुसैनी और अल्लारखी दोनों मुस्लिम मेहतर हैं और म्युनिसिपैलिटी में सफाई कर्मचारी हैं । खैरातअली इसी ~~विभाग~~ विभाग में दारोगा है । अल्लारखी खैरातअली से बहुत दुःखी है क्योंकि वह जब-तब उसका जुरमाना कर देता है । एक बार वह अपने गुस्से में खैरातअली को गाली दे बैठती है और खैरातअली उसे सुन लेता है । अल्लारखी घबड़ा जाती है और सोचती है कि अब की बार तो वह उसे नौकरी से बरखास्त ही कर देगा । इस बात पर हुसैनी अल्लारखी को ढाढस बंधाता है कि यदि ऐसा हुआ तो वह उस मामले को पंचों तक ले जाएगा । चौधरी के दरवाजे पर सर पटक देगा । इस पर अल्लारखी कहती है कि अगर ऐसी ही एकता होती तो दारोगा जरीमाना करने पाता ? तब हुसैनी कहता है कि "जितना बड़ा रोग होता है उतनी बड़ी दवा होती है पगली ।" [51] लेकिन जब वह महीने के अन्त में तलब लेने पहुंचती है तो उसके आश्चर्य का कोई ठिकाना नहीं रहता क्योंकि अबकी बार उसका एक भी पैसा बतौर जुरमाने के नहीं कटा था । हो सकता है कि दारोगा ने हुसैनी की बात को सुन लिया हो । डा. कांतिमोहन का कहना

है कि यह कहानी सन् 1931 के आसपास की रही होगी, क्योंकि उन्हीं दिनों में प्रेमचन्दजी "कर्मभूमि" लिख रहे थे और उस उपन्यास में काशी हड़ताल का जिक्र भी है जिसमें मेहतरों का रोल काफी महत्वपूर्ण था । जो भी हो, प्रेमचंद यहाँ शायद यह दिखाना चाहते हैं कि संगठन में बड़ी ताकत है । मेहतरों के संगठन के कारण ही शायद दारोगा खैरातअली अल्लारखी पर कोई जुरमाना नहीं कर पाता ।

(14) मेरी पहली रचना :

"जुरमाना" की भाँति यह कहानी भी "मानसरोवर" में कहीं नहीं है । इसे भी "अप्राप्त" कहानी संग्रह में दिया गया है । यह कहानी एक वास्तविक घटना पर आधारित है । घटना सन् 1893 के आसपास की है । तब प्रेमचंद की उम्र 13 साल की रही होगी । यह उस जमाने की बात है जब उच्च जाति के लोग निम्न जाति की स्त्रियों को अपनी संपत्ति समझा करते थे और बहुत-सी निम्न वर्ग की स्त्रियाँ भी उस प्रकार का मिथ्या-भ्रम पाले रहती थी । लेखक के एक दूर के रिश्ते के मामू थे । एक चमारिन से उन्हें प्रेम हो गया था । चमारिन भी बहुत ही खूबसूरत और मस्त थी । मामू छिप-छिप कर उसे मिलते थे । चमारों को जब इस बात की भनक पड़ती है तो वे मामू को सबक सिखाने का फैसला करते हैं । एक दिन वे लोग इन दोनों को रँगे हाथों पकड़ लेते हैं और मामूसाहब की बुरी तरह से पिटाई करते हैं कि एक महीने तक हल्दी और गुड़ पीते रहते हैं । ये मामू प्रेमचन्द को भी, तब नवाबराय, खूब तंग करते थे । उनकी जब-तब शिकायत करते रहते थे । अतः इस घटना पर एक नाटक लिखकर वे मामू के सिरहाने रख देते हैं, जिसे बादमें मामू "चिरागअली" के सुपुर्द कर देते हैं । परन्तु इस घटना के आठ साल बाद सन् 1901 में वे इसको आधार बनाकर एक रेखाचित्रनुमा कहानी लिखते हैं — " मेरी पहली रचना " ।

यह भी एक विचित्र संयोग है कि प्रेमचंद की प्रथम कहानी - " मेरी पहली रचना " — और अंतिम कहानी "कफ़न" दोनों दलित-जीवन से सम्बद्ध है । यद्यपि इस कहानी में प्रेमचन्द ने जो समस्या उठायी है वह उस ज़माने को देखते हुए भावुकी है , क्योंकि जैसा कि ऊपर कहा गया है , उच्च जाति के लोग उनको अपना अधिकार समझते थे , परन्तु फिर भी इस बात को लेकर चमारों में जो चेतना बतायी गयी है उसे हम प्रेमचंदजी की प्रतिबद्धता ही कह सकते हैं और प्रेमचंद जैसा प्रगतिशील कथाकार ही यह देख-समझ सकता है ।

§15§ गुल्लीदण्डा :

यह कहानी भी सन् 1929 में प्रकाशित हुई थी ।[53] यह मानसरोवर भाग-1 में संगृहीत है । अमृतराय द्वारा संपादित "मंजूषा" कहानी-संग्रह में भी इसको स्थान दिया गया है । यह कहानी भी प्रेमचन्द के बालकालीन संस्मरणों पर आधारित है । इसे गया चमार लेखक के बचपन का साथीदार है । वह गुल्ली डण्डा के खेल का उस्ताद था । बचपन में लेखक को खूब पढ़ाता था और इस बात को लेकर कई बार उनमें मार-कूट भी हो जाती थी । बचपन के खेल में चमार होने के कारण वह किसी प्रकार का लिहाज नहीं बरतता था । लेखक ने यह भी स्पष्ट किया है कि छुआछूत की भावना जितनी बड़ों में होती है , बच्चों में नहीं होती । कहानी नायक लेखक उच्च जाति का है और पढ़-लिखकर इंजीनियर हो जाता है । इंजीनियर होकर वह उसी गाँव का दौरा करता है और गया चमार से मिलता है । वह उनके सामने "गुल्ली डण्डा " खेलने का प्रस्ताव रखता है जिसे बहुत संकोच के साथ गया स्वीकार करता है और गाँव से दूर मैदान में वे दोनों खेलते हैं । लेखक उसमें गया को खूब पढ़ाता है । उसे लगता है कि समय की चपेट में गया अब पहले जैसा गया नहीं रहा । खेल के दौरान लेखक कई धाँधलियाँ करता है पर गया चूँ नहीं करता । उनकी सब बातों को मान्य रखता है । खेल के अन्त में गया बताता है कि

दूसरे दिन गांव के सब पुराने खिलाड़ियों का खेल होने वाला है। लेखक उसे देखने जाते हैं और सब देखकर हैरान रह जाते हैं कि गया का खेल और भी प्रौढ़ता को पहुंच गया था और कल गया सचमुच में उनके साथ खेला नहीं था बल्कि एक तरह से खिला रहा था। इस कहानी में लेखक का उद्देश्य केवल यह इंगित करने का है कि जिन्हें हम अछूत समझते हैं वे हमसे जुदा किस्म के इन्सान नहीं है बल्कि हम जैसी अनुभूतियों के ही स्वामी हैं। कहानी का अन्त यों होता है :

" मैं अब अफसर हूं। यह अफसरी मेरे और उसके बीच में दीवार बन गयी है। अब मैं उसका लिहाज पा सकता हूं, अदब पा सकता हूं, साहचर्य नहीं पा सकता। लड़कपन था, तब मैं उसका समकक्ष था। हममें कोई भेद न था। यह पद पाकर अब मैं केवल उसकी दया के योग्य हूं। वह मुझे अपना जोड़ नहीं समझता। वह बड़ा हो गया है, मैं छोटा हो गया हूं।" 54

§दूध×का×दाम× §16§ दूध का दाम :

"दूध का दाम" कहानी का प्रकाशन जुलाई 1934 में हुआ था। प्रेमचंदकी यथार्थवादी कहानियों में इस कहानी का विशेष स्थान है। छः महीने पहले "जागरण" में वे अपने समकालीन लेखक पं. ज्योतिप्रसाद मिश्र "निर्मल" को पूरी तरह से फटकार चुके थे —
" अंत में मैं अपने मित्र निर्मलजी से से बड़ी नम्रता के साथ निवेदन करूंगा कि पुरोहितों के प्रभुत्व के दिन अब बहुत थोड़े ही रह गये हैं और समाज और राष्ट्र की भलाई इसीमें है कि जाति से भेद-भाव, यह एकांगी प्रभुत्व, यह खून चूसने की प्रवृत्ति मिटायी जाय, क्योंकि जैसा हम पहले कह चुके हैं, राष्ट्रीयता की पहली शर्त वर्ण-व्यवस्था, ऊंच-नीच के भेद और धार्मिक पाखण्ड की जड़ खोदना है। इस तरह के लेखों से § ध्यान रहे निर्मलजी ने प्रेमचंदजी के खिलाफ एक लेख लिखा था जिसमें उनको ब्राह्मण-विरोधी करार

दिया था उसके जवाब में प्रेमचंदजी ने "जागरण" में यह लिखा था । ई आपको आपके पुराहित भाई चाहे अपना हीरो समझें और मंदिर के महंतों और पुजारियों की आप पर कृपा हो जाय , लेकिन राष्ट्रीयता को हानि पहुंचती है और आप राष्ट्र-प्रेमियों की दृष्टि में गिर जाते हैं ।" 55

ध्यान रहे यह वही प्रेमचन्द है जो कुछ साल पहले तक वर्ण-व्यवस्था और वैदिक संस्कृति का गुणगान करते थकते नहीं थे । अब वे खुल्लमखुल्ला वर्ण-व्यवस्था पर आघात कर रहे हैं । और "दूध का दाम " कहानी उसी दौर की कहानी है । कुल कहानी इतनी है : महेशनाथ गांव के जमींदार हैं । उनके यहां तीन पुत्रियों के उपरान्त पुत्र-रत्न का जन्म होता है , पर ठकुराइन को दूध नहीं उतरता । अतः भूंगी दाई दूध-पिलाई भी बनती है । भूंगी भंगिन है , उस समय उसे भी लड़का हुआ था , पर अपने लड़के मंगल को भूखा रखकर वह जमींदार के बेटे सुरेश को दूध पिलाती है । इसी कारण भूंगी की उस घर में काफी वकत है । किन्तु साल भर बाद बिरादरी चेती और उसने इस पाप के लिए बाबू महेश-नाथ को प्रायश्चित करने को कहा । महेशबाबू ने प्रायश्चित तो नहीं किया लेकिन उस घर में भूंगी की जो पूछ थी वह खत्म हो गई । कुछ ही दिन बाद भूंगी का घरवाला गूदड़ प्लेग में गुजर गया और एक दिन महेशबाबू के घर का परनाला साफ करते सांप के काटने से भूंगी भी चल बसी । मंगल अब अनाथ था । दिन-भर महेशबाबू के घर के आसपास मंडराता रहता था । घर में वे जूठन इतना बचता था कि ऐसे-ऐसे दस-पांच बच्चे पल सकते थे । मंगल का गांव में कोई अपना था तो टामी नामक एक कुत्ता । दोनों एक ही खाना खाते थे और एक ही टाट पर सोते थे । एक दिन खेल में सुरेश ने पहले मंगल का अपमान किया और फिर ऊपर से अपनी मां को शिकायत कर दी — " मंगल ने छू दिया । " सुरेश की मां मंगल को भगा देती है , पर लौट-लौट कर वहीं आने के अलावा दूसरा कोई चारा न

मंगल के पास था , न टामी के पास । मंगल टामी को कहता है :
" सुरेश को अम्मा ने पाला था ... लोग कहते हैं कि दूध का दाम कोई नहीं चुका सकता और मुझे दूध का यह दाम मिल रहा है ।" 56
अभिप्राय यह कि मंगल की चेतना जग चुकी है । उसे यह साफ लग रहा है कि उसके साथ अन्याय और अत्याचार हुआ है । और प्रेमचंद यही चाहते हैं । शोषित जिस दिन जान जायेगा कि उसका शोषण किया जा रहा है , उसी दिन से व्यवस्था के प्रति उसके मन में विद्रोह की ज्वाला भभकने लगती है ।

§।7§ लोकमत का सम्मान :

"लोकमत का सम्मान" अमृतराय वाली सूची में नहीं है , अतः उसका काल-निर्धारण मुश्किल है । किन्तु यह कहानी "मानसरोवर " के सातवें खण्ड में संकलित है । कहानी का नायक बैजू नामक धोबी है । उसे अपना गांव बहुत प्यारा था लेकिन जमींदार के कारिन्दों के कारण उसे गांव छोड़ना पड़ा । वे उससे बेगार तो करवाते ही थे , ऊपर से एक दिन कपड़े देने में देरी हो जाने पर वे लोग इसकी इतनी पिटाई करते हैं कि उसे आठ दिन हल्दी और गुड़ पीना पड़ा । अतः वह गांव छोड़कर शहर चला जाता है । शहर जाने पर उसमें तथा उसकी घरवाली में कुछ शहरी बुराइयां आने लगती हैं । बैजू शराब पीने लगता है । औरत को जेवरों की चाट पड़ जाती है और बच्चों की जीभ चटोरी हो जाती है , अतः बैजू की घरवाली उसकी नज़र बचाकर कपड़े पड़ाई पर देने शुरू करती है । बैजू पहले तो नाराज होता है पर बाद में उसे भी अन्य धोबियों की नीति का अनुसरण करना पड़ता है । एक दिन उसका भांडा फूट जाता है , लेकिन साथ ही बैजू को यह भी पता चलता है उसके ग्राहकों को उसकी ईमानदारी पर पूरा भरोसा है । उस दिन से बैजू का हृदय परिवर्तन हो जाता है और कुछ नहीं तो "लोकमत के सम्मान " के लिए ही वह ईमानदारी का बर्ताव करने लगता है ।

(18) बाबाजी का भोग :

"बाबाजी का भोग" कहानी कम चुटकुला ज्यादा है । कथ्य और शिल्प की दृष्टि से उसे लघुकथा कह सकते हैं । "मानसरोवर" भाग-3 में यह संकलित है । रामधन अहीर के दरवाजे पर एक साधु महाराज आ धमकते हैं । रामधन उनको गेहूं का आटा देता है । पर महाराजजी तो वहीं रसोई बनाने बैठ जाते हैं । इसमें घर में बची-खुची खाद्य सामग्री भी उनके पेट चढ़ जाती है । यथा -" घी आया । साधुजी ने ठाकुरजी की पिंडी निकाली , घंटी बजाई और भोग लगाने बैठे । खूब तनकर खाया , फिर पेट पर हाथ फेरते हुए द्वार पर लेट गए । थाली , बटुली और कलछुली रामधन घर में मांजने के लिए उठा ले गया । उस रात रामधन के घर चूल्हा नहीं जला । खाली दाल पकाकर ही पी ली । रामधन लेटा तो सोच रहा था — मुझसे तो यही अच्छे ।"[57] कहानी क्या , अच्छा-खासा व्यंग्य है — लोगों को लुटेरे कैसे लूट रहे हैं ।

(19) सवा सेर गेहूं :

प्रेमचन्दजी की यह एक सुप्रसिद्ध कहानी है । महाजन लोग अशिक्षित गरीब दलित तबके के लोगों का आर्थिक शोषण किस प्रकार करते हैं , यह कहानी उस पर प्रकाश डालती है । यह कहानी सन् 1924 के नवम्बर में प्रकाशित हुई थी और "मानसरोवर" भाग-4 में संकलित है । शंकर एक कुरमी किसान है । कुरमी , अहीर , पासी, गड़रिया , काछी आदि जातियां दलित जातियों में ही आती हैं । एक बार द्वार पर आये महात्मा को देने के लिए शंकर गांव के एक ब्राह्मण देवता के यहां से सवा सेर गेहूं उधार ले आता है । चैत में "जब विप्रजी पहुंचे तो उन्हें डेढ़ पसेरी के लगभग गेहूं दे दिया और अपने को उऋण समझकर उसकी कोई चर्चा नहीं की ।" याने भोले किसान ने अपने सीधेपन और संकोच में महाजन को यह जताया नहीं कि उस दिन के सवा सेर गेहूं का हिसाब बेबाक हो गया ।

सात साल में विप्रजी विप्र से महाजन हो गये और शंकर किसान से मजदूर । इस अरसे में महाजन के खाते में सवा सेर गेहूं बढ़ते-बढ़ते साढ़े पांच मन हो गया । जब महाजन ने तगादा किया तो बेचारा असामी भौंचक्का रह गया । उसने दबी जुबान से कहा भी — " महाराज , नाम लेकर तो मैंने उतना अनाज नहीं दिया पर कई बार खलिहानी के रूप में सेर-सेर , दो-दो सेर दिया है , अब आप आज साढ़े पांच मन मांगते हैं , मैं कहां से दूंगा ?"[58] उसके जवाब में विप्रजी महाराज कहते हैं — " लेखा जौ-जौ , बखसीस सौ-सौ । तुमने जो कुछ दिया होगा , उसका कोई हिसाब नहीं , चाहे एक की जगह पांच पसेरी दे दो । तुम्हारे नाम बही में साढ़े पांच मन लिखा हुआ है , जिससे चाहे हिसाब लगवा लो । दे दो तुम्हारा नाम छेक दूं , नहीं तो और भी बढ़ता रहेगा ।"[59] इस प्रकार "सवा सेर गेहूं " बढ़कर साढ़े पांच मन हो जाता है । विप्रजी उसके साठ रुपये कीमत लगाकर शंकर से दस्तावेज लिखवा लेते हैं । एक साल कड़ी मजदूरी करके शंकर साठ रुपये जोड़ लेता है पर तब तक रकम मयसूद 75 रुपये हो जाती है । पन्द्रह रुपये के लिए शंकर पूरा गांव छान मारता है पर रुपये उसको नहीं मिलते । तीन साल बाद 15 रुपये बढ़कर 120 रुपये हो जाते हैं । इसको चुकाने के लिए शंकर उनके यहां बंधुआ मजदूर हो जाता है । बीस साल तक शंकर उनके यहां बतौर मजदूर काम करता है , पर 120 रुपये वैसे के वैसे बने हुए हैं । शंकर की मृत्यु हो जाती है । कहानी लेखक की इस मार्मिक टिप्पणी के साथ खत्म होती है — " पंडितजी ने इस गरीब को ईश्वर के दरबार में कष्ट देना उचित न समझा , इतने अन्यायी , इतने निर्दयी न थे । उसके जवान बेटे की गरदन पकड़ी । आज तक वह विप्रजी के यहां काम करता है । उसका उद्धार कब होगा , होगा भी या नहीं , ईश्वर ही जाने । पाठक इस वृत्तान्त को कपोल-कल्पित न समझें । यह सत्य घटना है । ऐसे शंकरों और ऐसे विप्रों से दुनिया खाली नहीं है ।"[60]

इस प्रकार "सवा सेर गेहूं" में दिखाया गया है कि महाजनी शोषण और भारत के जन-मानस में व्याप्त कर्म तथा जन्मांतर सिद्धान्त का चोली-दामन का संबंध है और कहीं महाजन खुद ही ब्राह्मण हो तो पूछना ही क्या ? शंकर के शब्दों में — " एक तो ऋण — वह भी ब्राह्मण का — बही में नाम रह गया तो सीधे नरक में जाऊंगा ... महाराज तुम्हारा जितना होगा यहीं दूंगा , ईश्वर के यहां क्यों दूं , इस जन्म में तो ठोकर खा ही रहा हूं , उस जन्म के लिए क्यों कांटे बोऊं ? ?" 61

इसके दलित-विमर्श के संदर्भ में डा. मनोहर बंदोपाध्याय के शब्दों में कहना चाहूंगी — " द स्टोरी दस प्रेजेन्ट्स द प्रिस्टली ओप्रेशन इन द इंडियन विलेजिस टू विच पुअर अनएज्युकेटेड फार्मर्स हैव फौलन प्रे फौर जनरेशन्स . ए स्टोरी आफ ट्रजिक एक्सप्लोईटेशन बेस्ड आन एन आयरोनिक अटैक औन द रीलीजियस बिगोट्री एण्ड द सोशल सिस्टम्स इन रूरल इण्डिया." 62

[20] आगा-पीछा :

यह कहानी सन् 1928 में प्रकाशित हुई थी और "मानसरोवर" भाग-4 में संगृहीत है । इस कहानी में लेखक ने समाज के दो शोषित तबकों — चमार और वेश्या — को लिया है । नायक भगत-राम जाति से चमार हैं किन्तु पढ़-लिखकर एक कालेज में प्रोफेसर हो जाते हैं । नायिका श्रद्धा कोकिला की पुत्री थी जो कभी वेश्या रह चुकी है । कोकिला पुत्री-प्रेम के कारण उसका विवाह भगतराम से करने के लिए तैयार हो जाती है , परन्तु तब भगतराम के मां-बाप इस रिश्ते के लिए तैयार नहीं होते । श्रद्धा अपनी सेवा भावना से उनके दिल को जीत लेती है , परन्तु तब स्वयं भगतराम अपने संस्कारों पर विजय पाने में नाकाम रहते हैं और विवाह के लिए "आगा-पीछा" करते हैं । इसीमें वे अपना मानसिक संतुलन खो बैठते हैं और यह मानसिक उत्ताप अंततः उनकी जान ही ले लेता

है । मरने से पहले भगतराम अपने संस्कारों पर विजय पाते हैं और श्रद्धा को अपनी धर्मपत्नी के रूप में स्वीकार कर लेते हैं, लेकिन तब तक बहुत देर हो चुकी होती है । इस कहानी के द्वारा लेखक यह प्रतिपादित करना चाहते हैं कि आर्थिक शोषण और सामाजिक विषमता तथा उत्पीड़न पर आधारित जाति-प्रथा ने न सिर्फ अछूत लोगों को पशुवत जीवन व्यतीत करने पर विवश किया है, बल्कि उन्हें भी जाति-बिरादरी की जंजीरों में इस तरह बाँध कर लिया है कि जिस जातिगत उत्पीड़न के शिकार वे स्वयं हैं, जब उनकी बारी आती है तब वे अन्य अछूत लोगों से वैसा ही हृदयहीन व्यवहार करते हैं ।

§21§ सभ्यता का रहस्य :

यह कहानी मार्च सन् 1925 में प्रकाशित हुई थी और "मानसरोवर" भाग-4 में संकलित है । यह एक व्यंग्य-कहानी है । यह राय रतनबिहारी और घसियारे दमड़ी किसान की कहानी है । राय साहब बहुत अधिक शिक्षित और एक बहुत बड़े ओहदेदार हैं । दमड़ी के पास कुल छः बिस्वे जमीन है जिसकी देखभाल उसके बच्चे कर लेते हैं । दमड़ी रायसाहब का चौबीस घण्टों का नौकर है । वेतन न रायसाहब को पूरा पड़ता था न दमड़ी को । रायसाहब की पत्नी ने अपने खर्च पूरे करने के लिए रायसाहब के इजलास में पेश काम के मुकदमे में जमानत के बदले पर रिश्वत ली और दमड़ी ने अपने बैलों का पेट भरने के लिए सुखिया के खेत से जुआर काट लिया । रायसाहब का बाल भी बाँका न हुआ । दूसरी ओर मालिक की बदनामी करने वाली इज्जत के लिए दमड़ी को दो साल की कैद हो गई — वह भी खुद रायसाहब की कलम से । कहानी लेखक की इस व्यंग्यात्मक टिप्पणी के साथ खत्म होती है : " सभ्यता केवल हुनर के साथ ऐब करने का नाम है । आप चुरे से बुरा काम करें, लेकिन अगर आप उस पर परदा डाल सकते हैं, तो आप सभ्य हैं,

जैंटिलमैन है। अगर आप में यह सिफ़त नहीं है तो आप असभ्य हैं, गंवार हैं, बदमाश हैं। यही सभ्यता का रहस्य है।

§22§ सती :

यह प्रेमचंद की प्रारंभिक कहानियों में से है। उसका प्रकाशन सन् 1917 में हुआ था और यह "मानसरोवर" भाग-4 में संगृहीत है। यह कहानी शूद्रा के आदर्श को और भी अधिक प्रभावशाली ढंग से प्रतिष्ठित करती है। "घासवाली" की मुलिया की भाँति इस कहानी की नायिका का नाम भी मुलिया है। वह भी मुलिया की भाँति असाधारण रूपवती है। "घासवाली" की मुलिया के पति महावीर की भाँति इस मुलिया का पति कल्लू भी बदसूरत है। वहाँ चैनसिंह है तो यहाँ मुलिया का चचेरा देवर राजा है। उसे अपनी खूबसूरती पर घमंड है। राजा मुलिया पर डोरे डालता है पर नाकाम रहता है। मगर कल्लू को शक हो जाता है। उसीमें वह शराबी और वेश्यागामी होकर गुप्त रोग का शिकार होकर मर जाता है। मुलिया बीमार पति की सेवा जी-जान से करती है। उसके मरने के बाद राजा उसके सामने पुनर्विवाह का प्रस्ताव लेकर आता है। मुलिया उसे फटकार देती है। वह राजा से कहती है :" भैया नहीं रहे, तो क्या हुआ; भैया की याद तो है, उनका प्रेम तो है, उनकी सूरत तो दिल में है, उनकी बातें तो कानों में हैं। तुम्हारे लिए और दुनिया के लिए वह नहीं हैं, मेरे लिए अब भी वैसे ही जीते-जागते हैं। मैं अब भी उन्हें वैसे ही बैठे देखती हूँ। पहले तो देह का अंतर था। अब तो वह मुझसे और भी नगीच हो गये हैं। और ज्यों-ज्यों दिन बीतेंगे और भी नगीच होते जायँगे।" [63] इसके द्वारा भी प्रेमचंदजी यही कहना चाहते हैं कि "सतीत्व" केवल उच्च जातियों का विशेषाधिकार नहीं है। वस्तुतः मुलिया जिस तरह अपने बीमार पति कल्लू की सेवा करती है, महाभारत की सती शांडिलिनी स्मृतियों में कौंध जाती है।

प्रेमचन्द की कुछ अन्य कहानियाँ :

प्रेमचंदजी की कुछ ऐसी कहानियाँ हैं जिनमें जातिगत संदर्भ बहुत कम मिलते हैं परंतु परिवेश और पूर्वापर संबंधों से उनकी जाति के संबंध में कुछ अनुमान लगाया जा सकता है। "घरजमाई" कहानी का नायक किसी पिछड़ी या अछूत जाति का सदस्य लगता है। सुभागी कहानी की नायिका सुभागी बाल-विधवा है। वह मेहनती और माँ-बाप की आज्ञाकारिणी है। लोग उसके पिता तुलसी महतो पर उसके पुनर्विवाह के लिए दबाव डाल रहे हैं। कहानी में कुछ ऐसे संकेत मिलते हैं जिससे वह कोई पिछड़ी जाति की सदस्या लगती है। "मुक्ति मार्ग" कहानी के झींगुर और बुद्धू क्रमशः कुरमी या अहीर और गड़रिया है। "मंत्र" कहानी का बूढ़ा भगत जो डाक्टर के उस लड़के को सर्पदंश से बचाता है जिस डाक्टर ने उसके एक मात्र पुत्र को देखने तक का इन्कार कर दिया था क्योंकि वह उसके "गोल्फ" का टाईम था। यह बूढ़ा भगत भी कोई पिछड़ी या कबीला का सदस्य लगता है। वह झाड़-फूंक का काम करता है अतः कोई कंजर, भील या नट जाति का सदस्य भी वह हो सकता है। "स्वामिनी" कहानी की नायिका रामप्यारी का ससुर शिवदास हलवाहा है और गांव में प्रायः हलवाहे अछूत जाति के हुआ करते हैं। "अलग्योझा" कहानी का भोला महतो शायद अहीर या कुरमी जाति का लगता है। "आधार" कहानी का नायक मथुरा अहीर, गुजर या कुरमी लगता है। "दो बैलों की कथा" में हीरा-मोती का मालिक झूरी काछी जाति का है। "आत्माराम" का नायक महादेव सुनार है, तो "पशु से मनुष्य" कहानी का नायक दुर्गा माली है। उक्त सभी जातियों का शुमार पिछड़ी जातियों में है, अतः उनकी गणना भी दलितों में की जा सकती है। यद्यपि यह भी देखा गया है कि इस जातिगत संस्तरण में कोई जाति जब आर्थिक दृष्टिया ऊपर उठ जाती है तो कालान्तर में उसकी गणना "अगड़ी" जातियों में होने लगती है।

निष्कर्ष :

अध्याय के समग्रावलोकन से हम निम्नलिखित निष्कर्षों निष्कर्षों तक सहजतया पहुंच सकते हैं :—

[1] आधुनिक काल के प्रमुख विमर्श दो हैं — नारी विमर्श और दलित-विमर्श । हिन्दी साहित्य में आधुनिक काल के अन्तर्गत नारी-विमर्श का प्रारंभ तो प्रेमचंद-पूर्व काल से हो गया था , किन्तु दलित-विमर्श का प्रारंभ प्रेमचन्द युग से होता है । प्रेमचन्द तथा प्रेमचन्द स्कूल के लेखकों ने इस काल में दलित-विमर्श से सम्बद्ध कुछ कहानियां लिखी हैं ।

[2] प्रेमचन्द-स्कूल के लेखकों में जिन्होंने दलित-विमर्श को लेकर कहानियां लिखीं उनमें पाण्डेय बेचैन शर्मा " उग्र " , सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला , आचार्य चतुरसेन शास्त्री , महापंडित राहुल सांकृत्यायन , उपेन्द्रनाथ अश्क , ऋषभचरण जैन आदि मुख्य हैं ।

[3] प्रेमचंद की जिन कहानियों में दलित-विमर्श उपलब्ध होता है उनमें "सद्गति" , " शूद्रा " , " मंदिर " , "पूस की रात " , " मंत्र " , "कफ़न " , " सौभाग्य के कोड़े " , "घासवाली" , " देवी " , " ठाकुर का कुआं " , " लांछन" , "बाँड़म" , "गुरमाना" , मेरी पहली रचना " , " गुल्ली डण्डा", "दूध का दाम " , " लोकमत का सम्मान" , " बाबाजी का भोग " , " सवा सेर गेहूं " , " आगा-पीछा" , "रहस्यता का रहस्य " , " सती" आदि हैं ।

[4] इनमें दलित-विमर्श की दृष्टि से जिनमें लेखक का आक्रमक और व्यवस्था-विरोधी रवैया प्रकट हुआ है ऐसी कहानियों में "सद्गति" , "मंदिर" , "मंत्र" , "ठाकुर का कुआं " , "मेरी पहली रचना" , " दूध का दाम" , "सवा सेर गेहूं " आदि कहानियां उल्लेखनीय कही जा सकती हैं ।

[5] प्रेमचंद की "शूद्रा" , "मंदिर" , "घासवाली" ,

"देवी" , " ठाकुर का कुआँ" , "सती" आदि कहानियाँ [illegible] प्रमाणित करती हैं सेवा , त्याग , पवित्रता , पातिव्रत्य आदि स्त्रियोचित उच्च मानवीय गुणों और मूल्यों पर केवल उच्च-वर्ण के लोगों का ही विशेषाधिकार नहीं है ।

§ §6§ प्रेमचंद के लेखन में दुराग्रह और पूर्वाग्रह नहीं है । जहाँ उन्होंने निम्नवर्ण के लोगों में कहीं उच्चातिउच्च मूल्य दिखाये हैं , वहाँ अनेक कहानियों में उन्होंने इस वर्ग या वर्ण के लोगों की कमजोरियों और दुर्गुणों को भी रेखांकित किया है । इस प्रकार प्रेमचंद का दृष्टिकोण सर्वत्र मानवतावादी , न्याय-मूलक समाजव्यवस्थावादी , उत्पीड़न-विरोधी रहा है ।

§7§ प्रेमचंद शुरू में आर्यसमाजी विचारधारा को मानते थे , बाद में वे गाँधीवाद की ओर आकृष्ट हुए और अंत में यथार्थवादी-प्रगतिवादी जीवन-मूल्यों से उनका साहित्य ओतप्रोत है । फलतः उनकी [illegible] शुरुआत की कहानियों में हमें आदर्शवाद मिलता है । परन्तु दलित-विमर्श विषयक उनका दृष्टिकोण हमेशा मानवतावादी रहा है । यह अनायास नहीं हुआ है कि उनकी प्रथम कहानी "मेरी पहली रचना" तथा अंतिम कहानी "कफ़न" में हमें दलित-संदर्भ मिलते हैं ।

====== XXXXXX ========

:: संदर्भानुक्रम ::

§1§ उद्धृत धारा : डा. बलवंत साधू जाधव : प्रेमचंद साहित्य में दलित-चेतना : पृ. 69 ।

§2§ वही : पृ. 69 ।

§3§ कलम का सिपाही : अमृतराय : पृ. 530 ।

§4§ चतुरी चमार : निराला ।

§5§ वही

§6§ उद्धृत धारा : डा. बलवंत साधू जाधव : प्रेमचन्द साहित्य में दलित-चेतना : पृ. 71 ।

§7§ वही : पृ. 71 ।

§8§ वही : पृ. 71 ।

§9§ वही : पृ. 71 ।

§10§ वही : पृ. 71 ।

§11§ कहानी : कौड़ियों का हार : जयभगवान जैन : दान तथा अन्य कहानियां : पृ. 111 ।

§12§ वही : पृ. 113 ।

§13§ वही : पृ. 113 ।

§14§ वही : पृ. 116 ।

§15§ कहानी : सद्गति : मानसरोवर भाग-५ : पृ. 16 ।

§16§ प्रेमचंद और अछूत समस्या : डा. कांतिमोहन : पृ. 150-151 ।

§17§ कहानी : सद्गति : मानसरोवर भाग-५ : पृ. 16 ।

§18§ वही : पृ. 14 ।

§19§ वही : पृ. 11 ।

§20§ उद्धृत धारा : डा. कांतिमोहन : प्रेमचन्द और अछूत समस्या : पृ. 149 ।

§21§ कहानी : शूद्रा : मानसरोवर भाग-2 : पृ. 253 ।

§22§ द्रष्टव्य : प्रेमचन्द और अछूत समस्या : डा. कांतिमोहन : पृ. 136

§23§ द्रष्टव्य : वही : पृ. 138 ।

§24§ कहानी : मंदिर : मानसरोवर भाग-5 : पृ. 7 ।

§25§ वही : पृ. 4 ।

§26§ वही : पृ. 4 ।

§27§ कहानी : पूस की रात : मानसरोवर भाग-1 : पृ. 120 ।

§28§ वही : पृ. 120 ।

§29§ सांप्रदायिकता पर नेहरू के विचार : सं. नंदलाल गुप्त : पृ. 173

§30§ कहानी : मंत्र : कहानी-संग्रह : ठाकुरका कुआं : पृ. 135-136 ।

§31§ वही : पृ. 155 ।

§32§ कहानी : कफ़न : कहानी-संग्रह : मंजूषा : सं. अमृतराय :
पृ. 16 ।

§33§ वही : पृ. 17 ।

§34§ वही : पृ. 23 ।

§35§ प्रेमचंद और अछूत समस्या : पृ. 171 ।

§36§ कहानी : कफ़न : पुस्तक — उपरिवत् : पृ. 18 ।

§37§ द्रष्टव्य : कलम का सिपाही : अमृतराय : पृ. 664 ।

§38§ कहानी : सौभाग्य के कोड़े : मानसरोवर भाग-3 : पृ. 180 ।

§39§ वही : पृ. 172 ।

§40§ द्रष्टव्य : सांप्रदायिकता पर श्री नेहरू के विचार : पृ. 173 ।

§41§ कहानी : सौभाग्य के कोड़े : पृ. 175 ।

§42§ कहानी : घासवाली : कहानी-संग्रह : ठाकुर का कुआं :
पृ. 99 ।

§43§ वही : पृ. 100 ।

§44§ वही : पृ. 87 ।

§45§ वही : पृ. 88-89 ।

§46§ कहानी : देवी : गुप्त-धन भाग-2 : पृ. 251 ।

(47) कहानी : ठाकुर का कुआँ : संग्रह-वही : पृ. 8 ।

(48) वही : पृ. 11 ।

(49) कहानी : लांछन : मानसरोवर भाग-5 : पृ. 90 ।

(50) कहानी : बौड़म : मानसरोवर भाग-8 : पृ. 215 ।

(51) कहानी : जुरमाना : कहानी-संग्रह : कफन : पृ. 31 ।

(52) प्रेमचन्द और अछूत समस्या : डा. कांतिमोहन : पृ. 169 ।

(53) प्रेमचंद की अधिकांश कहानियों की प्रकाशन तिथि "कलम का सिपाही " के परिशिष्ट में पृ. सं. 657 से 664 पर दी गई है ।

(54) कहानी : गुल्ली डण्डा : संग्रह- मंजूषा : अमृतराय : पृ. 68 ।

(55) विविध-प्रसंग भाग-2 : पृ. 475-476 ।

(56) कहानी : दूध का दाम : संग्रह- मंजूषा : पृ. 209 ।

(57) कहानी : बाबाजी का भोग : मानसरोवर भाग-3 : पृ. 251 ।

(58) कहानी : सवा सेर गेहूं : मानसरोवर भाग-4 : पृ. 138 ।

(59) वही : पृ. 138 ।

(60) वही : पृ. 139 ।

(61) वही : पृ. 139 ।

(62) लाईफ एण्ड वर्क आफ प्रेमचन्द : डा. मनोहर बंदोपाध्याय : पृ. 69-70 ।

(63) कहानी : xxxx सती : मानसरोवर भाग-4 : पृ. 111 ।

===== XXXXXX ========